पुस्तक रजिस्टर्ड है कोई अन्य सज्जन न छापे ।

* ओ३म् *

Vedanta Tattva Kaumudi.

or

ıtial Principles of the Vedanta Philosophy

by

riman Pandit Aryamuniji.
Sanskrit Philosophy, D.A.V. College, Lahore

वेदान्त तत्त्व कौमुदी.

वा

ा फिलासफी के मुख्य सिद्धान्त

जिसको

ोमान् पण्डित आर्य्यमुनिजी

ने संख्या ...

निर्माण किया तिथि ...

और पुस्तकाकार ...

पं० देवदत्तशर्म्मा

ने

प्रिंटिंग वर्क्स, लाहौर में मुद्रित कराके
प्रकाशित किया ।

म्वत् १९७२. सन् १९१५ ई०

००] [मूल्य ।=)

ओ३म
गुरु विरजानन्द दण्डी
संदर्भ पुस्तकालय
दयानंद महिला महाविद्यालय
कुरुक्षेत्र
वर्गीकरण नम्बर .....
पु. परिग्रहण क्रमांक . 2549(क)

प्रेषण का लक्षण

विषय सूची

2549

पं०	विषय
७	द्वैताऽद्वैत का विचार।
१	विशिष्टाऽद्वैत का निरूपण।
१०	स्वामी शङ्कराचार्य्य के सिद्धान्त का निरूपण।
१६	आत्मा शब्द की व्युत्पत्ति।
३	सत्य का लक्षण।
१७	स्वरूप लक्षण का विचार।
१४	तटस्थ लक्षण।
११	विवर्त्त का लक्षण।
५	अद्वैत शब्द के शब्दार्थ।
३	जल के एकतत्व सिद्ध करने में युक्ति।
१	सात पदार्थों को एकतत्व निरूपण करने की युक्ति।
१८	द्रव्य का लक्षण।
१४	अद्वैत प्रतिपादक वाक्य।
५	वेदान्त के चारों महावाक्य।
१	सब पदार्थों के ब्रह्म विषयक लय होने का प्रकार।
२	अद्वैतवादियों के मत के साधक सर्वथे।
३	तीनों कारणों का विचार।
६	संसार के उपादान कारण में मत भेद।
३	परमाणुओं के खण्डन करने में प्रबल युक्ति।
६	तादात्म्य सम्बन्ध न मानने से अनवस्था दोष।

पं०	विषय
१६	३	निराकार से साकार पदार्थ उत्पन्न होने की युक्ति
१६	६	परमाणु और प्रकृतिवाद में दोष।
२०	६	परमाणुओं में शास्त्र प्रमाणाभाव का निरूपण।
२१	१६	सांख्य के पञ्चविंशति गण का निरूपण।
२३	१६	मिथ्या विषय में वादियों के मत भेद।
२४	६	भ्रम स्थल में बौद्ध का सिद्धान्त।
२६	१५	[illegible]
३०	८	असमवा।
३०	१४	ईश्वरादि साधारण कारणों का निरूपण।
३१	२१	अध्यास का लक्षण।
३२	३	उक्त लक्षण में मत भेद।
३३	१४	अध्यास के हेतु त्रिविध दोषों का वर्णन।
३४	१३	शुद्ध चेतन में अध्यास होजाने का दृष्टान्त।
३५	८	उक्त अर्थ में व्यास सूत्र का प्रमाण।
३६	४	माया की आवरण और विक्षेप दो शक्तियों का निरू
	५	मायावादियों के उक्त पक्ष में कुमारिल भट्ट आक्षेप।
३८	४	मायावाद में अन्य दोष की आपत्ति।
३६	१५	कुमारिल भट्ट से प्रथम मायावाद की प्रवृत्ति।
६६	२०	ब्रह्म में अज्ञानादि की अनुपपत्ति।
४०	७	वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार उक्त दोषों का परिहार

पृ०	पं०	विषय
१	५	ब्रह्म में अज्ञान के स्वाश्रय स्वविषय पक्ष का निरूपण ।
१	२०	उक्त अर्थ में ऋ० मं० का प्रमाण ।
२	६	अज्ञान के स्वपर निर्वाहक होने में युक्ति ।
४	१७	अध्यास की स्वसिद्धि में श्रीशङ्कराचार्य्यजी की युक्ति ।
४५	४	अज्ञान दृष्टनष्ट स्वरूप है ।
४५	६	प्रकाशस्वरूप में तमरूप अज्ञान कैसे? इस प्रश्न का उत्तर
४७	६	अज्ञान की स्थिति में अनवस्थादि दोषों का परिहार ।
४८	१	अध्यास के भेदों का निरूपण ।
४६	१६	आत्माध्यास में संसर्गाध्यास का अंगीकार ।
५२	७	अध्यासनिवृत्ति के उत्तर काल में अशरीरीभाव की प्राप्ती
५४	१८	मिथ्या का लक्षण ।
५४	२१	व्यावहारिक प्रातिभासिक में लक्षण भेद होने पर भी ज्ञानबाध्यत्व रूप से समता का प्रतिपादन ।
५६	७	अज्ञान की आवरण तथा विक्षेप शक्ति की निवृत्ति में विलक्षणता ।
५७	१६	ब्रह्मज्ञान के उत्तर काल में प्रारब्ध प्रतिबन्ध से शरीर स्थिति में वेदान्त मत का प्रदर्शन ।
५८	१४	अधिष्ठान ज्ञान से कल्पित की निवृत्ति में मत भेद ।
५६	७	उक्त दोनों मतों का निष्कर्ष ।
६०	१६	अद्वैत ब्रह्म के बोधार्थ सृष्टि प्रक्रिया में अनेक दृष्टान्तों का प्रयोजन ।

पृ०	पं०	विषय
६१	१२	जीवादि छः अनादियों का निरूपण ।
६३	१४	छः अनादियों के साथ अद्वैतवाद का विरोध और उस का परिहार ।
६५	२०	भेद के खण्डन में प्रबल तर्क तथा षट् अनादिवाद के साथ विरोध ।
६७	१६	उक्त अर्थ में स्वा० शं० जी की युक्ति का प्रदर्शन ।
६८	८	स्वा० शंकराचार्य्यजी के विषय में प्रोफैसर मैक्समूलर की सम्मति ।
६६	१३	बौद्धमत से मिथ्या वैराग्य का जन्म ।
७०	१	'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्र के अथ पद से वैराग्यादि साधनों का निरूपण ।
७१	७	वैराग्य का विस्तृत उपपादन ।
७५	७	मिथ्या वैराग का खण्डन करके वीर रस का प्रतिपादन
७७	५	वेदान्त के तीन प्रस्थान ।
७८	१०	वेदान्त सिद्धान्त में अध्यारोप की प्रक्रिया ।
८०	११	प्रसङ्गसङ्गति से गौड़पाद की कारिकाओं का विचार ।
८१	४	अन्नमयादि कोशों का निरूपण ।
८१	१३	चेतन के तीन भेद ।
८२	६	अध्यारोप का उपसंहार ।
८३	१	'अहम्ब्रह्मास्मि' वाक्य से मूलाज्ञान की निवृत्ति
८३	७	उक्त अर्थ में शङ्कापूर्वक समाधान ।

पृ०	पं०	विषय
८४	२०	ब्रह्मविद्या की प्राप्ति में श्रवणादि साधनों का उपयोग।
८५	१७	श्रवणादि का लक्षण।
८६	१	'एतेन योगः प्रत्युक्तः' इस सूत्र में योग के खण्डन न करने में स्वा० शं० चा० का मत।
८६	३	योग सिद्धि के वाक्य।
९०	४	वृत्तिव्याप्ति और फल व्याप्ति का भेद।
९१	१	योग की प्रधानता का वर्णन।
९२	१४	स्मृति इतिहासादिकों से योग के महत्व का वर्णन।
९३	३	महर्षि व्यास के मत में योग शास्त्र का स्वीकार और वेदान्त की सिद्धि में अनेक प्रमाणों का निरूपण।
९५	८	प्रत्यक्ष योग्य विषय का निरूपण।
९५	१५	शब्द प्रमाण से प्रत्यक्ष ज्ञान होने का निरूपण।
९६	१८	चारे प्रकार के अभावों के ब्रह्म में लय होजाने का कथन।
९७	१४	दिक् कालाकाश इन नित्य पदार्थों को ब्रह्म में कल्पित सिद्ध करना।
९९	१	मायावाद का निरूपण
९९	७	माया की सिद्धि में ऋग्वेद के मन्त्रों का प्रमाण
१००	१६	अविद्या की सिद्धि में शङ्कर भाष्य का प्रमाण
१०२	४	गौड़पादाचार्य्य की कारिकाओं में मायावाद का निरूपण
१०४	१८	उपाधि के कारण घटाकाश के समान जीव के वर्णन में शङ्कर भाष्य के प्रमाण

पृ०		विषय
१०७	६	मुक्ति के अनादि अनन्त होने का निरूपण
११३	२०	घटाकाश के समान जीव के ब्रह्म विषयक लय होने का कथन
११४	५	यह सम्पूर्ण संसार ब्रह्म रूप है इस विषय में मनोहर कविता
११४	१४	एक संस्कृत श्लोक द्वारा, अपने निज मत का प्रदर्शन

गुरु विरजानन्द दण्डी
सन्दर्भ पुस्तकालय
प्राप्ति संख्या क्रमांक 2110
ॐ दयानन्द महिला महाविद्यालय, कुरुक्षेत्र
दिनांक ९।१०।६३

अथ

वेदान्त तत्वकौमुदी प्रारभ्यते

---

* सग्धराछन्दः *

नाऽद्वैतं ब्रह्मतत्त्वंप्रकृतिरपितथाभिन्नरूपाः प्रमाणम् ।
जीवोभिन्नैकतत्त्वं, श्रुतिगतिनिपुणैर्वर्णितंवेदमार्गे ॥
त्रैतंब्रह्मैकरूपंगुणगुणिविधयाद्वैतिनः केचिदाहुर्ज्जीवो ।
ब्रह्मैवनान्यः प्रकृतिरपितथाशाङ्करंतत्त्वमेकम् ॥

वेदान्त शास्त्र के विषय में कईएक कहते हैं कि एक ब्रह्म ही (तत्व) वास्तव में वस्तु नहीं किन्तु प्रकृति भी ब्रह्म से भिन्न है यह बात वेद और शास्त्रों में पाई जाती है । इसी प्रकार जीव भी एक भिन्न तत्त्व है । यह बात वेद में पाई जाती है ॥

अन्य एक प्रकार के द्वैतवादी अर्थात् वाशिष्ठाऽद्वैतवादी यह कहते हैं कि जिस प्रकार गुण और गुणी भिन्न नहीं होते । अर्थात् सूर्य्य और सूर्य्य की प्रभा दोनों भिन्न नहीं इसी प्रकार

जीव, ईश्वर, प्रकृति यह तीनों एक ही हैं । इस मत का नाम विशिष्टाऽद्वैत है ॥

जीव ब्रह्म ही है और प्रकृति जो इस जगत् के बनने का मसाला हैं । यह दोनों ब्रह्म से भिन्न नहीं, यह शाङ्कर अर्थात् स्वामी शङ्कराचार्य्य जी का मत है ॥

भाव यह है कि वेदान्तियों के चार (सम्प्रदाय) अर्थात् स्कूलतो, जीव, ईश्वर प्रकृति । इन तीनों पदार्थों को भिन्न २ मानते हैं । उनमें १ मध्व, २ निम्बार्क, ३ बल्लभाचार्य्य तथा रामानुजाचार्य्य यह चारों हैं ॥

स्वामी शङ्कराचार्य्य का मत इन चारों से विलक्षण है, इनके मत में वैशेषिक शास्त्र वालों के समान । १ द्रव्य, २ गुण, ३ कर्म्म, ४ सामान्य, ५ विशेष, ६ समवाय, ७ अभाव, यह सात पदार्थ नहीं । किन्तु १ अस्ति, २ भाति, ३ प्रियरूप, ४ नाम, ५ रूप यह पांच सत्ता है । इनमें से पहली तीनों तो ब्रह्म का ही रूप हैं । और शेष नाम रूप यह दोनों माया के अंश है । यहां प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या वेदान्ती इन पांच तत्वों को मानते हैं ? उत्तर यह है कि नहीं वेदान्तियों के मत में वस्तुतः दो ही पदार्थ हैं । एक आत्मा और दूसरा अनात्मा, आत्मा उसको कहते हैं कि जो संपूर्ण ब्रह्माण्ड में व्यापक हो । "अतति सर्वत्रयः सः आत्मा" जो सर्वत्र निरन्तर होकर वर्त्तमान हो उसका नाम आत्मा है । और अनात्मा वह है जो परिणामी है इसको प्रकृति वा माया शब्द से भी कथन करते हैं ॥

इनको सत्य वा मिथ्या इन नामों से भी कथन करते हैं। आत्मा सत्य और प्रकृति वा माया मिथ्या है ॥

सत्य नाम उसका है जो तीनों कालों में एक रस हो। "त्रिकालऽबाध्यत्वं सत्यत्वम्" अर्थात जिसका तीनों कालों में नाश न हो, मिथ्या के अर्थ प्रतीतिमात्र हैं, जैसे रज्जू में सांप सीप में चान्दी। "मृगतृष्णाकाजल" इत्यादि मिथ्या ज्ञान से उत्पन्न हुए पदार्थों को वेदान्ति मिथ्या कहते हैं। सो प्रकृति भी इनके मत में मिथ्या ज्ञान से ही उत्पन्न हुई है। वास्तव में नहीं वास्तव में एक ब्रह्म ही ब्रह्म है ॥

कई एक लोग सत् असत् तुच्छ इस प्रकार से तीन पदार्थ कथन करते हैं, सत् ब्रह्म वा, आत्माशब्द से जो वस्तु कथन की जाती है' असत् मिथ्या। तुच्छ जिस की सत्ता ही कुछ नहीं केवल नाम मात्र ही हों जैसे कि शशशृङ्ग बन्ध्या पुत्र,खयुष्प, इत्यादिनाम, मात्र के पदार्थ हैं, इन का नाम तुच्छ है। पर यह भी मिथ्या वा असत् के भीतर आजाते है इस लिये दो पदार्थ मानने ठीक हैं अधिक नहीं।

जिस का नाम सत् वा आत्मा है उस का एक स्वरूप लक्षण है और दूसरा तटस्थ, स्वरूप लक्षण वह कहलाता है जो स्वरूप मात्र को कथन करे,इसका प्रमाण यह है, 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' ब्रह्म ज्ञान रूप सतरूप और अनन्तरूप, अर्थात् तीन प्रकार के भेदों से रहित है या यों कहो कि उस का कोई अन्त नहीं इस लिये अनन्त कहा गया है।

प्रथम शङ्का तो इस में यह है कि जब स्वरूप लक्षण की प्रतिज्ञा है तो फिर निषेधरूप लक्षण क्यों किया गया क्या कभी किसी पदार्थ का निषेध भी स्वरूप होता है, यों तो (अजो ब्रह्म न पैदा होने वाला ब्रह्म है (अजड़ोब्रह्म) जो जड़ न हो वह ब्रह्म है इस प्रकार निषेधरूप सब ही ब्रह्म के स्वरूप लक्षण कहलाएंगे ? इस का उत्तर वेदान्ति यह देते हैं कि सत् ज्ञान यह भी उस ब्रह्म का पृथक् पृथक् स्वरूप नहीं,यदि ऐसा ही हो तो एक ही निराकार ब्रह्म के सत् ज्ञान अनन्त यह तीन रूप बन जायेंगे इस लिये सत् से असत् का निषेध लेना अर्थात् ब्रह्म असत् रूप नहीं एवं ज्ञान से अज्ञान का निषेध लेना अर्थात् वह जड़ नहीं ।

इसी प्रकार अनन्त से सीमा रहित वा भेद रहित लेना अर्थात् सजातीय १, विजातीय २, स्वगत ३, इन तीनो प्रकार के भेदों से ब्रह्म रहित है, वा उस की जाती वाला अर्थात चेतन पदार्थ कोई उस से भिन्न और नहीं एवं सजातीय भेद से ब्रह्म रहित है । क्योंकि जीव वा ईश्वर, ब्रह्म से भिन्न कोई और चेतन वेदान्तियों के मत में नहीं ।

दूसरा विजातीय भेद इस लिये नहीं कि भिन्न जाती वाला यह जड़ जगत् रज्जु सर्प के समान मिथ्या है, इस लिये यह भी ब्रह्म से भिन्न कोई वस्तु नहीं स्वगत भेद इस लिये नहीं कि ब्रह्म निराकार है, अर्थात् उस के हाथ पादादि कोई अङ्ग नहीं, अनङ्ग होने से ब्रह्म का अपने में अपना भेद नहीं ।

अपने निरूपण में यदि स्वस्वरूप की ही अपेक्षा रखने वाले

का नाम स्वरूप लक्षण हो तो सत् भी स्वरूप नहीं क्योंकि जो तीनों कालों में नष्ट न हो उस का नाम सत् हुआ इस प्रकार तीनों कालों से विना सत् का निरूपण करना कठिन है, अर्थात् तीनों कालों की अपेक्षा आवश्यकता से सत् का लक्षण हुआ इस लिये सत् स्वरूप लक्षण नहीं ठहरता,इस प्रकार ज्ञान जो दूसरे प्रकाश की अपेक्षा न रखता हो किन्तु दूसरे को प्रकाशित करे यहां भी दूसरे का नाम लेना ही पड़ा, इसी प्रकार तीन प्रकार के भेदों को हटा कर अनन्त की सिद्धि करनी पड़ी, फिर सत्यादि स्वरूप लक्षण कैसे ?

इस आशङ्का का उत्तर यह है कि स्वरूप ही जहां लखाया जाय उस का नाम स्वरूप लक्षण है। सत्यादि पदों ने स्वरूप को ही लखाया है किसी भिन्न पदार्थ को नहीं, इस लिये इस का नाम स्वरूप लक्षण है।

दूसरा तटस्थ लक्षण वह कहलाता है, जो कदाचित हो अर्थात् सदा उस लक्ष्य के साथ न रहे किन्तु किसी काल तक लक्ष्य के साथ रहे जैसे जगत्कर्ता होना सदैव ब्रह्म के साथ नहीं रहता, जब जगत् को ब्रह्म बनाता है तभी वह जगत् कर्ता कहलाता है। इस लिये इस का नाम तटस्थ लक्षण है।

भाव यह है कि जिस का लक्षण किया जाता है, उसे लक्ष्य कहते हैं। जब तक वह लक्ष्य रहे तब तक जो साथ रहे उसे स्वरूप लक्षण कहते हैं, संस्कृत में इस को यों कहेंगे कि;-"यावल्लक्ष्यकालाऽवस्थितत्वेसतिव्यावर्त्तकत्वं स्वरूप

लक्षणत्वं" और जो सदा साथ न रहे, उसे तटस्थ लक्षण कहते हैं। "यावल्लक्ष्यकालानवस्थितत्वे सतिव्यावर्त्तकत्वं तटस्थ लक्षणत्वम्" जो कुछ देर तक रह कर लक्ष्य का वर्णन करने वाला हो उसे तटस्थ लक्षण कहते हैं। अस्तु जिस आत्मा का स्वरूप वा तटस्थ लक्षण किया है, वह सब ब्रह्माण्ड में एक ही है, नाना रूप नहीं, जीव ईश्वर ब्रह्म यह भेद उस में उपाधि से बने हूए हैं। जब प्राणधारी हुआ तो जीव कहलाया, और जब जगत का कर्त्ता हुआ तो ईश्वर कहलाया। सब से बड़ा होने से ब्रह्म कहलाया वास्तव में एक चेतन ही है, अर्थात उलटी प्रतीति होकर प्रतीत होरहा है वास्तव में नहीं, "अतत्वतोऽन्यथा प्रथाविवर्त्तः" जिसकी अवास्तव में अन्यथा प्रतीति है, उसका नाम विवर्त है अर्थात् ब्रह्म इस जगत का विवर्ती उपादान कारण है परिणामी नहीं और माया का यह जगत् परिणाम है परिणाम का लक्षण यह है कि जो वास्तव में स्वरूप को छोडकर अन्य रूपको धारण करले उसे परिणाम कहते हैं जैसे कि दूध दधिका परिणामी उपादान कारण है तीसरा अरम्भक उपादान भी है जैसाकि अनेक परमाणुओं के जुड़ने से एक घट वा मठ बनजाता है इसका नाम आरम्भक उपादान है ब्रह्म इस जगत का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण है। अर्थात् आपही निमित्त और आप ही उपादान है जैसाकि मकड़ी आपने जालेका आपही निमित्त और आपही उपादान होती है

इसका नाम अभिन्न निमित्तोपादान है अस्तु मुख्य प्रसङ्ग यह है शङ्कराचार्य्य जी के मतमें नाना पदार्थों का स्वीकार नहीं किन्तु एक ब्रह्म ही नानारूपों को धारण करलेता है। और फिर एक का एक ही रहता है। इसलिये इस मत का नाम अद्वैतवाद है। अर्थात् "न अद्वैतं यस्मिन् तद् अद्वैतं" जिस में दूसरा नहो उसका नाम अद्वैत है। दूसरे में ब्रह्म से भिन्न भाव अभाव सब सम्मिलित हैं। अर्थात् आकाशकाल दिशादि अन्य पदार्थों की तो कथा ही क्या किन्तु अभाव भी वेदान्त मत में ब्रह्म का कार्य्य है। या यों कहो कि अभाव भी अज्ञान से ही प्रतीत होता है, और अज्ञान भावरूप होकर अभाव का उपादान कारण है। भावाभाव का विचार हम आगे करेंगे, यहां यह दिखलाना है कि एकमात्र ब्रह्म ही तत्व है जिससे आकाशादि सब पदार्थ उत्पन्न होजाते हैं। जैसाकि इस उपनिषद् में लिखा है :—

तस्मात् वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भृतः।
आकाशद्वायुवावोरग्निरग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी॥

उसी पूर्णब्रह्म परमात्मा से आकाश उत्पन्न हुआ अर्थात् ईथर रूप आकाश जिसका शब्द गुण है अर्थात् एक प्रकार का भावरूप आकाश उस ब्रह्म से बना, यहां आकाश के अर्थ अवस्तुरूप तुच्छ पदार्थ के नहीं।

भाव यह है कि ब्रह्मनिष्ठ जो माया है उस के प्रथम कार्य्य का नाम यहां आकाश है

से अग्नि, अग्नि से (आपः) जल, और उस जल से पृथिवी तत्व इस प्रकार ब्रह्म से पांचों तत्व उत्पन्न हुए।

जो कई एक लोग यहां यह अशङ्का किया करते हैं पृथिव्यादि पदार्थ बहुतों की मिलावट से बने हैं जैसेकि औक्सी (Oxygen) जन, और हैड्रो (Hydrogen) जन की मिलावट से जल बन जाता है इस लिये इन्हें तत्व नहीं कहना चाहिये, इस का उत्तर यह है कि उक्त दोनों प्रकार की सूक्ष्म वस्तुयें जल का कारण हैं, अर्थात एक प्रकार के जल के वाष्प उन्हें कहना चाहिये, इस लिये कोई दोष की बात नहीं दूसरा उत्तर यह है कि क्षिति, अप, तेज, मरुत् और व्योम अर्थात् पृथिवी जल, अग्नि, वायु और आकाश इन को तत्व इस लिये नहीं कहा जाता कि इन की असली हालत बदल ही नहीं सकती, किन्तु तत्व इस लिये कहा गया है कि यह परमाणु वा प्रकृति के मोटे २ कार्य्य हैं।

दर्शनों में यदि तत्व के, यही अर्थ होते कि जो स्वयं सिद्ध वस्तु हो उस को तत्व कहते तो सांख्य तत्व कौमुदी आदि ग्रंथों में प्रकृति के कार्य्यों को तत्व शब्द से कदापि कथन न किया जाता प्रकृति के कार्य्यों को तत्व कथन करने से स्पष्ट है कि तत्व शब्द कार्य्य के लिये भी आसकता है, अस्तु प्रसङ्ग यह है कि पृथिव्यादि पाञ्चेतत्व जिन को पाञ्च भूत भी कहते हैं, यह ब्रह्म के कार्य्य हैं अर्थात् रज्जू में सर्प के समान अज्ञान से ब्रह्म में प्रतीत होते हैं और एक मात्र वास्तव तत्व एक ब्रह्म ही वेदान्त मत में है।

यहां शङ्का यह उत्पन्न होती है कि द्रव्य १, गुण २, कर्म्म ३,

सामान्य ४, विशेष ५, सहसवाय ६, अभाव ७, यह सात पदार्थ जो वैशेषिक शास्त्र वालों ने माने हैं क्या यह वास्तव में भिन्न २ पदार्थ नहीं ?

इस का उत्तर यह है कि एक ही वस्तु का नाम उन्होंने सात प्रकार से रख लिया है, द्रव्य से भिन्न गुण कोई वस्तु नहीं, किन्तु द्रव्य के स्वरूप भूत ही, सब गुण होते हैं। जैसे मीठापन मिठाई से भिन्न नहीं एवं श्वेतपीतादिक भी द्रव्य से भिन्न कोई वस्तु नहीं, जो वस्तु द्रव्य के हलाने से हिले और द्रव्य के चलाने से चले वह द्रव्य से पृथक कैसे होसकती हैं, जैसे एक ही पुरुष भिन्न २ सम्बन्धों के कारण भाई, भतीजा, पुत्र पिता, श्याला श्वशरा, जामाता, एंव अनेक धर्म्मों को धारण कर लेता है इसी प्रकार द्रव्य भी गुणादि धर्म्मों को धारण किए हुए हैं वास्तव में गुणादि पदार्थ द्रव्य से भिन्न नहीं।

अन्य युक्ति यह है कि इन के भिन्न लक्षण भी नहीं होसकते अर्थात द्रव्य के लक्षण करने में गुण की आवश्यकता है, और गुण के लक्षण करने में द्रव्य की इस प्रकार एक दूसरे का सहारा चाहते हैं जिस का नाम अन्योन्याश्रय है।

जैसाकि "क्रिया गुणवत समवयी कारणम्" इत्यादि सूत्रों में द्रव्य के लक्षण में गुणका सहारा लिया है अर्थात् जो गुण वाला हो वह द्रव्य कहलाता है यदि केवल (समवायी) अर्थात उपादान कारण को ही द्रव्य कहें तो परमात्मा किसी का उपादान नहीं वह द्रव्यना कहलाएगा और इनकी परिभाषा में जीवात्मा

और परमात्मा दोनों ही द्रव्य हैं जैसे द्रव्य का लक्षण गुण और क्रिया के बिना न होसका एवं गुणका लक्षण भी द्रव्य के बिना नहीं होता अर्थात् (द्रव्याश्रयी) द्रव्य में आश्रय लेने वाले को यह गुण कहते हैं यद्यपि कर्म्म भी द्रव्यका आश्रय लेता है तथापि वह गुण इसलिये नहीं कि वह संयोग विभाग में मुख्य कारण है और गुण ऐसा नहीं अस्तु यहां इस विशेष निरुक्ति से क्या ? अपेक्षित तो यहां इतनी बात है कि जिस प्रकार एक द्रव्य तत्वको ही वैशेषकों ने सात प्रकार का मान रखा है इसी प्रकार एक ब्रह्मतत्व लोगों ने मट्टी पत्थर धातु आदि बहुत रूपों में मान रखा है, वास्तव में रज्जूसर्प के समान सब कल्पित पदार्थों का अधिकरण एकमात्र ब्रह्मही है वेदान्ती कहते हैं कि यह मत केवल स्वामी शङ्कराचार्य्य जी का ही नहीं किन्तु उपनिषद् वेदान्तसूत्र और गीतादि सब ग्रन्थ इसी सिद्धान्त के प्रतिपादक हैं। जैसाकि—

"एकमेवाद्वितीयंब्रह्म नेहनानास्ति किञ्चन" एक अद्वितीय जिससे भिन्न कोई और नहीं ऐसा एकमात्र ब्रह्म ही है और यहां (नाना) बहुत सी वस्तुयें नहीं स्त्री पुरुष कुमार कुमारी रूप आप स्वयंब्रह्म ही नानारूपों को धारण किये हुए है जैसाकि—

"त्वंस्त्री त्वंमुमानसि त्वंकुमारः उतवाकुमारी त्वंजीर्णः दण्डेन वञ्चसी त्वंजातो भवसी विश्वतोमुखः, श्वेताश्वतर ।

अर्थ—तूं स्त्री है तूं पुरुष है तूं कुमार और तूं ही कुमारी युवती हैं, तूं जीर्ण बृद्ध होकर लाठी के सहारे चलता है तूं हा उत्पन्न होता है और तू ही विश्वतः मुख है अर्थात् सर्व द्रष्टा है इसका नाम सर्वात्मवाद है अर्थात् जो यह प्राणीमात्र जड़ चेतन वस्तु है वह सब सैन्धव धनवत् नमककी खान के समान ब्रह्मही ब्रह्म है अन्य कोई वस्तु नहीं इसका नाम एकत्व वा अद्वैतवाद है ॥

यदि कोई यह कहे कि यह नाना वस्तुऐं भिन्नभिन्न होती हुई एक कैसे ? तो उत्तर यह है के जैसे एक ही मृतिका से बने हुए घट वा मठ उपाधि के कारण बड़े छोटे होने पर भी एकही होते हैं अर्थात् मृत्तिका रूपमें उनका कोई भेद नहीं होता इसलिये एक होते हैं इसका नाम मुख्य सामानाधिकरण है ॥

दूसरी रीति एकता के सिद्ध करने की यह है कि जैसे एक ही रस्सी में सांप, दण्ड, जल की धारा वा पृथिवी की रेखा, भिन्न प्रतीत होती हुई भी जब रस्सी रूपी अधिष्ठान का ज्ञान होजाता है तो एक मात्र आधिकरण स्वरूप ही सब भाव बन जाते हैं इस का नाम मुख्य सामानाधिकरण है। अर्थात सब भ्रम मिट कर वास्तव में एकता होजाती है, इस प्रकार यह चराचर ब्रह्माण्ड आधिष्ठान रूप ब्रह्म के ज्ञान होने पर एक वस्तु मात्र ब्रह्म ही रह जाता है अन्य कुछ नहीं जैसे कि:—

सर्वंखल्विदंब्रह्म,ब्रह्मैवेदंविश्वामिदंवरिष्ठं, ब्रह्मविद् ब्रह्मैवभवति,तत्रकोमोहः कःशोक एकत्वमनुपश्यतः ।

ब्रह्मैवसन् ब्रह्माप्येति, यथानद्यः स्यन्दमानासमुद्रे अस्तंगच्छन्ति नामरूपे विहाय तथाविद्वान् नाम रूपात् विमुक्तः परात्परंपुरुषमुपैतिदिव्याम् ब्रह्मैवसन् ब्रह्माप्येति ।

"तत्वमसि, प्रज्ञानंब्रह्म, अयमात्माब्रह्म, अहंब्रह्मास्मि" इत्यादि वाक्यों में जीव ब्रह्मको एक कथन किया है कि १ यह सब कुछ ब्रह्म ही है, २ यह प्रिय सम्पूर्ण विश्व ब्रह्म ही है, ३ ब्रह्मको जानने वाला ब्रह्म ही होजाता है, ४ वहां कोई शोक मोह नहीं रहता जो एक मात्र ब्रह्म को देखता है, ५ ब्रह्म होकर ब्रह्म को प्राप्त होजाता है, ६ जिस प्रकार बहती हुई नदीएं समुद्र में जाकर एक होजाती हैं इस प्रकार ब्रह्मवेत्ता पुरुष अपने नामरूप को छोड़कर उस परब्रह्म को प्राप्त होजाता है । ७ वह ब्रह्म तू है । ८ जीवब्रह्म ही है । ९ यह आत्माब्रह्म है । १० मैं ब्रह्म हूं । इत्यादि वाक्य स्पष्ट अद्वैतवाद को सिद्ध करते हैं एवं उपनिषद् भी अद्वैत में सङ्गत होते हैं, न केवल उपनिषद् किन्तु " योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् " इत्यादि वेद वाक्य भी उपास्य उपासक की एकता को ही सिद्ध करते हैं एवं उपनिषद् भी यही कहता है कि "यो असौ असौ पुरुषः सोऽहमस्मि" जो ऐसा २ पुरुष है, सो मैं हूं, इस प्रकार अभेद को उपपादन करता है ।

इस प्रकार वेदान्त मत में एक ब्रह्म ही तत्व है, उसी से

यह सब कुछ बना हुआ है। अन्त में घृत की कठिनता के लय के समान फिर द्रवीभाव को जैसे घनीभूत हुआ घी फिर ज्यों का त्यों घी बन जाता है, एवं इस माया के परिणाम रूप जगत् को ब्रह्म फिर अपने में लय कर लेता है ॥

सार यह है कि वेदान्तियों का लय ईंटों से बने हुए मकान के लय के समान अवयवों का भिन्न २ होना ही नहीं, अर्थात् जैसे मकान गिरकर फिर ईंटें पृथक् २ होजाती हैं। ऐसा वेदान्तियों का प्रलयवाद नहीं किन्तु बर्फ से बने हुए पानी के समान बर्फ ढलने पर फिर वही एक तत्व रह जाने के समान सब वस्तु अधिष्ठानरूप ब्रह्म ही बन जाती हैं, फिर कोई भी भेद नही रहता, जैसाकि इस वाक्य में कथन किया है कि :—

" यतोवाइमानि भूतानि जायन्ते येनजातानि जीवन्ति यदभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म"।

जिससे यह सब पृथिव्यादि तत्व उत्पन्न होते हैं और जिस में स्थिति पाकर अन्त में बर्फ के ढलने के समान ब्रह्मरूप वारिधि में मिल जाते हैं वही ब्रह्म जानने योग्य है। इस भाव को गौड़पादाचार्य्य ने यों वर्णन किया है कि :—

" आदावन्तेचयन्नास्ति वर्त्तमानेपितत्तथा " ॥

जो वस्तु आद और अन्त में नहीं होती वह मध्य में भी प्रतीति मात्र ही होती है, वास्तव में नहीं ॥

इसी भाव को भाषा के कई एक कवि यों वर्णन करते हैं कि "शुद्धसनातन नित्य प्रबद्धसुएक अखण्डित ब्रह्मवछानो आनन्दपूरसुधूरविहीनइसोघनसौंधवखिल्य अछानो।

बहुभावभयातज केनिजआतमकारयरूप जु जाय बखानो। क्षितिपावकरूपतजेजबही तबही निज आतम माहसमानो॥

जब इस एक ब्रह्म तत्व का ज्ञान होजाता है तो फिर उस के मुक्त स्वरूप होने में कुछ सन्देह नहीं रहता, और ना ही उस को इस भौतिक शरीर की कुछ ममता रहती है किन्तु सर्वत्र उसे ब्रह्म ही ब्रह्म भासता हैं। वह पुण्य भूमी में शरीर त्यागे, वा अपुण्य में, उसे कोई न्युनाधिकता प्रतीत नहीं होती जैसा कि;—

सवैया।

तटतीरथ माहतजे तन को उत ऊषर देश विषे तनुडारे। देशमलेच्छ तजे तनु को उत जाय मरे वहगंगकिनारे॥

शिव ध्यान धरे अथवा मन में उत हाहा करे दृग से जल डारे। तनु डारत ही शिवरूपभया नहीं और तनू हित लोक पधारे॥

यह भाव शाङ्कर मत वेदान्त का है जिस में द्वैत का दर्शन मात्र भी नहीं सब कुछ अध्यस्त है और अध्यारोपसे ही उपपादन किया जासकता है वास्तव में जहां एक ही एक है वहां कौन किस को कहे वा कौन सुने, इसी भाव को दृढ़ करते हुए अर्थात् एक मात्र ब्रह्म तत्व का वर्णन करते हुए स्वामी शङ्कराचार्य्य जी विवेक चूड़ामणि में यों लिखते हैं कि "व्याप्यव्यापकता मिथ्यास र्वात्मेति शासनात्" कि जब सब एक ही आत्मा है तो एक वस्तु को व्यापक मानना और दूसरी को व्याप्य, अर्थात एक देशी परिच्छिन्न मानना यह भी मिथ्या ही है अर्थात् अध्यारोप में है वास्तव में नहीं अस्तु इस की सच्चाई वा मिथ्यात्व हम वेदान्त की प्रक्रिया के वर्णन में दिखलाएंगे, यहां मुख्य प्रसङ्ग यह था कि शङ्करामतानुयायी एकमात्र ब्रह्म तत्व ही मानते हैं अन्य कोई वस्तु नहीं।

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धायां वेदान्ततत्व कौमुद्यां प्रथमः परिच्छेदः समाप्तः।

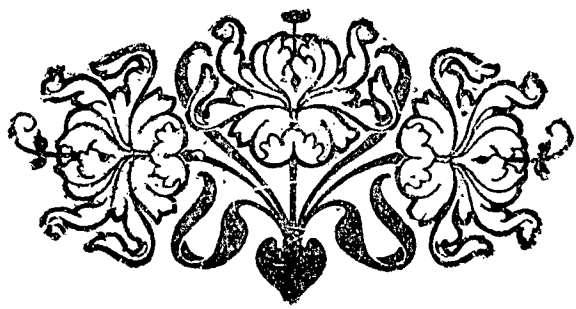

अथ कारण निरूपणं नाम द्वितीयः परिच्छेद प्रारभ्यते।

वेदान्त शास्त्र में उपादान १, निमित्त २, भेद से कारण दो प्रकार का माना गया है, जैसे घड़े की उत्पत्ति में मट्टी उपादान कारण है, और कुम्भकार अर्थात् कुम्भार निमित्त कारण है, कुम्भार के दण्ड चक्रादिक भी निमित्त कारण हैं। इसी प्रकार इस संसार की उत्पत्ति में एक उपादान कारण होना चाहिये और दूसरा निमित्त।

संसार के उपादान कारण में कई एक भेद हैं, न्याय और वैशेशिक शास्त्र वाले परमाणुओं को उपादान कारण मानते हैं, और सांख्य और योग वाले प्रकृति को, वेदान्ति इन दोनों का बलपूर्वक खण्डन करते हैं, परमाणुओं में तो यह दोष बतलाते हैं कि उन का स्वरूप ही स्थिर नहीं होसकता क्योंकि जो पदार्थ चारों ओर से चपटा हो वा गोल हो, वह बिना जोड़ अर्थात् भागों में नहीं होसकता, इस लिये परमाणुओं में भी भाग हैं इसी प्रकार उन के भीतर बाहर आकाश भी मानना पड़ता है जिस के भीतर बाहर आकाश होता है वह वस्तु निराकार कदापि नहीं होसकती, जब निराकार न ठहरे

तो साकार हुए और साकार पदार्थ नित्य नहीं होसकता इस लिये परमाणुओं को थिउरी ठीक नहीं ।

और इस से भी प्रबल युक्ति वेदान्ती परमाणुओं के खण्डन में यह देते हैं कि जब परमाणु आपस में जुड़ के स्थूलता को धारण कर लेते हैं, तब एक ओर से जुड़ना मानना पड़ेगा, और ऐसा मानने से वह निराकार न रहे किन्तु साकार ठहरगए ।

यदि एक ओर से संयोग न माने किन्तु सर्व ओर से मानें तो ऐसा संयोग लोक में असंभव है,इस भाव से परमाणु भों का वास्तव में कोई किनारा नैयायिक नहीं मानते कल्पित किनारा मान कर नैयायिक दो परमाणुओं का संयोग मानते हैं, इसके खण्डन में एक भाषा की चौपाई में यों लिखा है ।

चौपाई ।

निरावयवमत ह्वैहै हाने ।
याते कल्पित देश बखाने ॥

कल्पित देश बखाना जोई ।
जो कारय निर्वाहक सोई ॥

तौ यह मायावाद पछानो ।
ते सिद्धान्त अब दूर पलानो ॥

आशय यह है कि कल्पित देश मानने से तो मायावाद ही

मानना पड़ा कि वास्तव में कोई परमाणुओं का किनारा नहीं किन्तु केवल कल्पनामात्र है इसी का नाम मायावाद है।

अन्य युक्ति यह है कि दो परमाणु जुड़ कर जो एक तीसरा पदार्थ द्व्यणुक बन जाता है वह क्या? दोनों परमाणुओं से कोई भिन्न वस्तु है यदि भिन्न वस्तु माने तो कार्य्य और कारण का तादात्म्य सम्बन्ध न रहा। तादात्मम्य के अर्थ अपना आप ही है, ऐसा मानने से परमाणुओं से भिन्न द्व्यणुक कोई पदार्थ न रहा यदि समवायसम्बन्ध माने तो समवाय को दोनों समवायियों से अर्थात दोनों सम्बन्धियों से भिन्न बोधन करने के लिये किसी और समवाय की आवश्यकता पड़ेगी, और उस को और की, इस प्रकार आवश्यकताओं की धारा बंध जायगी, इस का नाम अनवस्था दोष हैं। अर्थात् कोई स्थिति न रहेगी।

अस्तु इस सूक्ष्म विचार करने से ग्रंथ बढ़ता और कठिनता युक्त भी होता है इस विचार को जो देखना चाहे, वह हमारे बनाए हुए वेदान्त आर्य्य भाष्य में देख ले।

वेदान्तियों ने जो परमाणुवाद की स्थूल त्रुटियें कही हैं वह यह हैं कि निरावयव परमाणुओं से यह सावयव संसार कैसे होगया, क्योंकि कारण के गुण ही कार्य्य में आते हैं जब यह सिद्धांत हैं तो फिर निराकार परमाणुओं से साकार जगत कैसे? ब्रह्मवादियों के मत में तो यह दोष इसलिये नहीं आता कि उनके मत में "अघटनघटनायटीयसी" माया ब्रह्म की दासीवत् ब्रह्म के बड़े२

कार्य्य करने के लिये सदैव उपस्थित रहती है, इसलिये उस माया में यही विचित्र शक्ति है कि निराकार से साकार होजाता है और नैयायिकों के स्वमन्तव्यानुसार उत्तर यह है कि जैसे दो परमाणुओं क जुड़ने से द्व्यणुक में ह्रस्व परिमाण आजाता है, जो उस के कारण परमाणुओं में न था अर्थात् परमाणु रूप कारण में जो गुण न थे वह उन के कार्य्य द्व्यणुक में आगए यदि कारण के गुण ही कार्य्य में आते तो परमाणुओं के कार्य्य परमाणुओं से भी सूक्ष्म होने चाहिये थे, पर ऐसा नैयायिक नहीं मानते किन्तु अणु परिमाण वाले परमाणुओं से कार्य्य में ह्रस्व और दीर्घ की उत्पत्ति मानते हैं इसी प्रकार निराकार ब्रह्म से साकार जगत् बनने में कोई दोष नहीं।

वेदान्तियों का यह भी सिद्धान्त है कि एकमात्र अद्वैतवाद को छोड़ कर और कोई मत ऐसा नहीं कि जो कारणवाद में निर्दोष हो अर्थात् सब मतों के सिद्धान्त कच्चे हैं एक मात्र वेदान्त सिद्धान्त ही ऐसा है जो निर्दोष है।

परमाणुओं और प्रकृति वाद में तो ईश्वर कुमार और जुलाहे के समान बिना रूई और मट्टी के बिचारा निरर्थक ही पड़ा रहेगा। या यों कहो कि परमाणु और प्रकृति रूपी धन से बिना आकिञ्चन ही होजाता है।

वेदांतियों के मत में तो उस की माया रूपी शक्ति ऐसी पूर्ण है कि जिस के कारण ब्रह्म में कोई भी न्यूनता नहीं इस भाव को

श्री स्वामी शङ्कराचार्य्य जी तथा भामती के कर्त्ता वाचस्पति मिश्र ने ब्रह्मसूत्र अ०२०पा० १ सूत्र १० में बलपूर्वक वर्णन किया है कि इत्युपपन्नमस्माकमायावादिनांनये, कि यह बात कि ब्रह्म पदार्थान्तर की आवश्यकता नहीं रखता केवल मायावादियों के मत में ही भूषण है औरों के नहीं।

परमाणुवाद में तो यह भी बड़ा दोष है कि इस को किसी वैदिक पुरुष ने माना नहीं इसी लिये किसी ब्राह्मण वा उपनिषद में इस का उल्लेख नहीं पाया जाता भला प्रकृति तो कई एक उपनिषदों के स्थलों में 'प्रकृति' वा (अजा) नामसे पाई जाती है पर परमाणु वादि क्या प्रमाण देसकते हैं अस्तु इस प्रसङ्ग को समाप्त कर इस प्रकृति वाद का विचार करते हैं, प्रकृतिवादि कहते हैं कि "मायान्तु प्रकृतिं विद्यात मायिनन्तु महेश्वरम्" इस उपनिषद वाक्य में (प्रकृति) अर्थात् सांख्य शास्त्र की मानी हुई प्रधानका कथन पाया जाता है यह कथन इन का ठीक नहीं क्योंकि "मायान्तु प्रकृति विद्यात्' इस के अर्थ यह हैं कि माया को ही प्रकृति समझना चाहिये। प्रकृति के अर्थ यहां उपादान कारण के हैं न कि सांख्य शास्त्र की मानी हुई प्रकृति के क्योंकि प्रकृति नाम उपादान कारण का है इस लिये उपादान कारण ही लेना चाहिये अस्तु इसमें कोई विवादकी बात नहीं कि उपनिषदों में गुणों वाली प्रकृति का वर्णन है जिससे सांख्य शास्त्र वाली प्रकृति का ग्रहण ही किया जासकता है अन्य किसी वस्तु का नहीं पर विचार यहां

युक्ति से किया जाता है कि क्या कोई ऐसी प्रकृति युक्ति के आगे ठहर सकती है जैसाकि सांख्य शास्त्र में माना है ॥

प्रकृति वादियों की प्रक्रिया यह है कि सत्व, रजस्, तमस् इन तीनों गुणोंकी सम्पावस्था का नाम प्रकृति है अर्थात् उक्त तीनों गुण जब एक जैसे होते हैं उसी का नाम मूल प्रकृति है जब उनमें क्षोभ होकर उनमें से कोई एक छोटा बड़ा होजाता है तो प्रकृति से महत्तत्व उत्पन्न होजाता है १ महत्तत्व से, २ अहङ्कार, अहङ्कार से, ३ शब्द,शब्द से, ४स्पर्श,५ रूप,६ रस, ७ गन्ध, इनसे ८ पृथिवी, ९ जल, १० तेज, ११ वायु, १२ आकाश, यह पांच महा भूत अर्थात् तत्वउत्पन्न होते हैं और दोनों प्रकार के इन्द्रिय अर्थात ज्ञान और कर्म्मेंद्रिय, १३ श्रोत्र, १४ त्वक्, १५ चक्षु, १६ जिह्वा, १७ घ्राण १८ और मन, १९ वाक्, २० पाणी, २१ पाद, २२ पायु, २३ उपस्थ, २४ प्रकृति, २५ पुरुष, सांख्य मतमें यह पञ्च विंशति गण कहलाता है अर्थात् ५ भूत ५ तनमात्र ६ ज्ञानेन्द्रिय ५ कर्म्मेन्द्रि २२ प्रकृति २३ पुरुष २४ महत्तत्व २५ अहङ्कार यह पञ्च विंशति गण हैः—

इससिद्धान्त का वेदान्ति, यों खण्डन करते हैं कि जब प्रकृति की साम्यावस्था स्वाभाविक है तो फिर यह संसार कैसे होसकता है साम्यावस्था प्रकृति का स्वतः सिद्धस्वभाव होने से प्रकृति से महत्तत्व ही नहीं उत्पन्न होगा क्योंकि प्रकृति जड़ है उसे इच्छाही नहीं होसकती और "पुरुष" जीव इनके मतमें असङ्ग है "असङ्गो-

ज्ञोह्ययं पुरुषः" फिर प्रकृति साम्यावस्था कैसे त्यागेगी ॥

जड़ प्रकृति से संसार उत्पन्न होने की सिद्धि में सांख्यी यह दृष्टान्त देते हैं कि जिस प्रकार गौ के स्तनों से दूध स्वयंही नीचे की ओर स्रावित होने लगता है और नादियें स्वयंही बहन लगती है इस प्रकार प्रकृति में भी स्वतः सिद्ध क्रिया होसकती है ॥

वेदान्ति कहते हैं कि यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि चेतन बच्चे और गौ के व्यापार से दूध नीचे की ओर आता है और नदियों का जल निम्न स्थानों की ओर ना कि ऊचों की ओर इसलिये उक्त दृष्टान्तों से प्रकृति में जगत् उत्पन्न करने की शक्ति कदापि नहीं होसकती अस्तु संसार उत्पन्न करने की शक्ति येन केन उपाय से हो भी जाय परन्तु जीवके कर्म्मों के फल भुगाने और जीव को मोक्ष दिलाने की सार्थ्य जड़ प्रकृति में कदापि नहीं होसकती इस प्रकार प्रकृति कारण वाद ठीक नहीं और प्रकृति के होनेमें कोई वेद प्रमाण भी नहीं " नमृत्युरासीदमृतं नतर्हि न रात्र्याअन्ह आसीत् प्रकेतः अनीदवातं स्वधयातदेकं तस्माद्धान्य न किञ्चदासीत्" ऋग्०१०.११.१२९इस वेदमन्त्र के(स्वधपातदेकं)इस वाक्य से सायणाचार्य्यने माया का ग्रहण किया है, क्योंकि यहां (स्वधया) के अर्थ माया के हैं माया ही ब्रह्मकी शक्ति रूप से उसमें रहती है और वेदान्त मत में ब्रह्म और मायाका अध्यस्ततादात्म्य सम्बन्ध है अर्थात ब्रह्मका आत्मभूत

होकर यह ब्रह्ममें रहती है काल्पित का नाम यहां अध्यस्त है इस प्रकार उक्त मन्त्र मायाका प्रतिपादक है प्रकृति का नहीं ॥

अन्य प्रमाण यह है कि ऋग्वेद के इसी सृष्टि विद्या के प्रकरण में जो यह लिखा है कि "तुच्छेनाभ्वपहितं" कि यह सब कुछ पहले तुच्छ से ढका हुआ था यहां यदि तुच्छ के अर्थ शश शृङ्गके समान अत्यन्त अलीक अर्थात् असत् वस्तु के लिये जांय तो उसमें ढकने की शक्ति नहीं होती। यदि तीनों गुणों की साम्यावस्था रूपी प्रकृति के लें तो वह तुच्छ नहीं कहला सक्ति क्योंकि उसकी स्वतन्त्र सत्तासांख्यों ने मानी है इसलिये यहां तुच्छ के अर्थ अनिर्वचनीय माया के ही होसकते हैं, अन्य किसी पदार्थ के नहीं ॥

अनिर्वचनीय के अर्थ वेदान्तियों के मतमें उस पदार्थ के नहीं जिस का निर्वचन न होसके किन्तु उस पदार्थ के हैं कि जो परमार्थ सद्ब्रह्म और असत् अत्यन्त अलीक शशशृङ्ग तथा वध्या पुत्रादि पदार्थों से भिन्न अनादि भाव पदार्थ हो अर्थात् अनादि काल से जो चला आता हो और ज्ञान से जिस का नाश हो जाय अर्थात प्रातिभासिक हो जैसे रज्जु का सर्प और शुक्ति रजतादिक हैं ॥

शुक्ति रजितादिकों के विषय में जगत् प्रसिद्ध छः प्रकार के मत हैं इनको शास्त्र की परिभाषा में ख्यातियें कहते हैं यह छः प्रकार की हैं १ सत् ख्याति, २ आत्मख्याति, ३ अन्यथा ख्याति,

2549

४ अख्याति, ५ अन्यथाख्याति, ६ अनिर्वचनीय ख्याति, इनमें से सत् ख्यातिवादी रामानुजादिक हैं उनका यह आशय है कि सीपी में जो चांदी का भ्रम माना जाता है वह भ्रम नहीं किन्तु सीपी में जो चमकीले चांदी के परमाणु हैं वही इकट्ठे होकर राजत अर्थात् चांदी रूपसे प्रतीत होरहे हैं ॥

इस मत को आज कल की कमिस्ट्री (Chemistry) विद्या ने मूलोच्छेद कर दिया क्योंकि अनुसन्धान (Exparimont) एक्सपैरीमैंट करने से सीपी में चांदी के ज़र्रे नहीं पाए जाते ?

दूसरा आत्मख्याति मानने वाला बौद्ध है, अर्थात् जिन के मत में यह सब संसार आत्मा के भीतर ही है बाहर भ्रम से भासता है, यह मत भी आज कल नष्ट प्रायः ही हैं क्योंकि यदि वास्तव में बाहर कोई पदार्थ न होता तो फिर भिन्न प्रतीति का क्या कारण इस से स्पष्ट है कि बाह्यपदार्थों का (अपलाप) अर्थात् इन की बाहर की सत्ता को सर्वथा मिटा देना युक्ति शून्य है, तीसरे अन्यथा ख्याति वादी नैयायिक हैं इन का यह अभिप्राय है कि जंगल में जो सच्चा सांप देखा था अथवा नगर में जो सच्ची चांदी देखी थी, सादृश्य दोष से उसी के संस्कार उद्भूत होआए इस लिये सांप वा चान्दी की प्रतीति होगई। चौथे अख्याति वादि प्रभाकरादिमीं भासक हैं इन का यह अभिप्राय है कि रज्जु सांप और शुक्ति रजत में दो ज्ञानों की मिलावट है, सांप का ज्ञान भी सच्चा है और अर्थ यह ज्ञान भी सच्चा हैं अर्थात् यह सांप है यहां यह उस रस्सी को विषय करता है जो आगे पड़ी है और सांप उस ज्ञान को

जो सच्चा सांप जंगल में देखा है इस लिये दोनों ही सच्चे हैं दोनों ज्ञानों का मिला देना ही नई बात है दोनों में से झूठा कोई नहीं। पाञ्चवें, असत् ख्याति शून्यवादी की है, जिस के मत में सब शून्य हैं इसलिये सब असत हैं। ६अनिर्वचनीख्याति वेदान्तियों की है इनके मत में नतो नैयायिकों के समान यह संसार सच्चा है अर्थात् अपनी अपनी अवस्था में सब पदार्थ उन्हों के त्यों खड़े हैं। और ना शून्य वादियों के समान अत्यन्त असत् हैं किन्तु अनिर्वचनीय हैं मायामात्र हैं जैसे कि स्वप्ने के पदार्थ मायामात्र हैं इसी तरह यह सब पदार्थ प्रातिभासिक केवल प्रतीति मात्र हैं इस का नाम अनिर्वचनीय है।

प्रातिभासिक मिथ्या अनिर्वचनीय, यह तीनों पर्य्यायवाची शब्द हैं।

मिथ्या के प्रसंग में यहांख्यातियों का निरूपण किया गया मुख्य प्रसङ्ग यह है कि वेदान्तियों के मत में माया उपादान कारण है और यह भी सांखियों की प्रकृति के समान ब्रह्म से भिन्न नहीं किन्तु, मकड़ी कीट के समान ब्रह्मरूप आत्मा का शरीरभूत है। जैसाकि- "यथोर्णनाभिसृजतेगृणयते च" जैसे मकड़ी अपने में से स्वयं जाले को निकालती है, और स्वयं ही उसमें फंसकर कर्तृत्व भाव को प्राप्त होती है। वह जैसे तन्तुरूप जाल का मसाला कहीं बाहर से नहीं लेती इसी प्रकार ब्रह्म भी स्वयं सब कुछ बन जाता है। जैसे कि विवेक चूड़ामणि में स्वामी शङ्कराचार्य्य जी ने लिखा है कि :—

स्वयंब्रह्मा स्वयंविष्णुः स्वयमिन्द्रः स्वयं शिवः ।
स्वयं विश्वमिदंसर्वं स्वस्मादन्यन्नकिञ्चन ॥

अन्तःस्वयंचापिवहिःस्वयचस्वयंपुरस्तात् स्वयमेवपश्चात्
स्वयंह्यवाच्यांस्वयमेवोदीच्यांतथोपरिष्टात्स्वयमप्यधस्तात्

अर्थ–ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, शिव, ब्रह्म स्वयं अपने आप ही बन गया न केवल उक्तदेव ही बना, किन्तु यह सब संसार भी स्वयं ही बन बैठा उसके अपने आप से भिन्न कुछ नहीं ॥ १ ॥

भीतर बाहर वह सब अपने आप ही है । आगे पीछे भी आप ही और पूर्वोत्तर में भी आप ही है, ऊपर और नीचे भी आप ही है ॥

यह भाव तभी स्थिर रह सकता है । जब ब्रह्म ही इस संसार का उपादान कारण हो । उपादान के अर्थ अपने आप कार्य्य रूप होजाने वाले कारण के हैं, इसका ठीक २ लक्षण यह है कि :—

"आत्मनिकार्य्यजनिहेतुत्वं उपादानत्वम्" जो अपने में से ही कार्य्य के बनाने का सामर्थ्य रखे उसका नाम उपादान है, कई एक लोग यहां यह आशंका करता है कि निराकार पदार्थ उपादान कारण नहीं होता तो सुख दुःखादि कार्य्यों के प्रति आत्मा उपादान कैसे ? अर्थात् सुख दुःखादि गुण जो आत्मा में हैं उनका उपादान कारण निराकार आत्मा ही है, कोई अन्य

पदार्थ नहीं एवं स्वप्न सृष्टि के पदार्थों का उपादान भी निराकार आत्मा ही है, फिर कैसे कहा जासकता है कि निराकार पदार्थ उपादान कारण नहीं होसकता ॥

और ब्रह्म सूत्र कार महर्षि व्यास ने तो स्पष्ट लिख दिया हैकि आत्मनि चैवं विचित्राश्चहि२।१,२८कि स्वप्नावस्था में आत्मा ही विचित्र सृष्टियों को रच लेता है इस प्रकार आत्मा से भिन्न कोई सत्ता नहीं जैसे कि "उपादानं प्रवंस्य मृदभांडस्यैव कथ्यते । अज्ञानंचैव वेदान्तैस्तस्मिन्नष्टेक्वविश्वता ॥ १ ॥ यथ्या रज्जु परित्यज्य सर्वं गृहणाति वैभ्रमात् । तदवत् सत्यमविज्ञायजगत् पस्यति मूढ़धी ॥ २ ॥

अर्थ–जैसे मट्टी के बने हुए भांडे का उपादान कारण मट्टी होती है इसी प्रकार इस संसार का उपादान कारण अज्ञान है जब वह अज्ञान नष्ट हो जाता है फिर संसार पन कहां रहता है ॥१॥

इसी प्रकार जब तक पुरुष को रजू ज्ञान नहीं होता तभी तक उसको सर्प प्रतीत होता है इसी प्रकार जब तक इस संसार का अधिष्ठान ब्रह्म प्रतीत नहीं होता तभीतक इसकी प्रतीति अज्ञानियों को होती है जब उस ब्रह्म का साक्षात्कार होजाती है तो फिर संसार की प्रतीति नहीं होती यह वेदान्त का सिद्धान्त है यहां यह अशंका होती है कि जब तक यावत अज्ञान का नाश न होगा तब तक उसके कार्य संसार का नाश कैसे ? इसका उत्तर

वेदान्ती यह है देते हैं कि अज्ञान दो प्रकार का है एक मूलाऽज्ञान और दूसरा तूलाऽज्ञान सम्पूर्ण संसार भरके कारण का नाम मूलाऽज्ञान है और जीवनिष्ठ अज्ञान का नाम तूलाऽज्ञान है सो जीव के अज्ञान के नाश होने पर जीव के संसार का नाश होजाता है मूलाऽज्ञान चाहो बना ही रहे क्योंकि इनके मत में जीव रचित भृष्टि और ईश्वर रचित सृष्टि इस प्रकार सृष्टि दो तरह की है सो जीव रचित सृष्टि का जीव के अज्ञान के नाश होने से नाश होजाता है ॥

उक्त स्थल में भी यह विवेक है कि जिस अज्ञान से जो पदार्थ मिथ्या प्रतीत हुआ है उस अज्ञान के नाश से उस मिथ्या पदार्थ का नाश होजायगा जैसे रस्सी के अज्ञानसे सांप की प्रतीति है, उस अज्ञान के नाश से सांप का नाश होजाय ।। परन्तु रज्जू विषयक अज्ञान के नाश से शुक्ति के मिथ्या ज्ञान का नाश नहीं होगा ।

सार यह निकला कि पद विषयक अज्ञान है, तद विषयक ज्ञान से मिथ्या पदार्थ मिट जाता है ।

यहां भी यह सूक्ष्म बात याद रखनी चाहिये कि अज्ञान के नाश द्वारा अधिष्ठान का ज्ञान कल्पित पदार्थ के नाश का हेतु है और यदि उपादान कारण के नाश से ही कार्य का नाश माने तो बहुत दोष आते हैं जैसे कि ध्वंस का नाश भी वेदान्ति ब्रह्म ज्ञान से मानते हैं परन्तु ध्वंस का उपादान कारण नहीं होता और दो परमाणुओं के संयोग के नाश से उस कार्य्य का नाश होजाता है यहां भी उपादान के नाश से कार्य्य का नाश नहीं किन्तु

असमवायी कारण के नाश से कार्य्य का नाश हुआ। और उपादान परमाणु ज्यों के त्यों बने हुए हैं और यदि उपादान कारण के नाश से ही कार्य्य का नाश माने तो नैयायिकों के मत में मन और परमाणुओं की क्रिया का कभी भी नाश नहीं होगा क्योंकि उक्त दोनों नित्य द्रव्य माने गए हैं अस्तु यह विचार अति सूक्ष्म है इसलिये इसका उल्लेख यहां प्रसाद गुण का नाशक है और ग्रन्थ भी विस्तृत होता है इसलिये संक्षिप्त तत्व यह है कि उपदान कारण रूप अज्ञान के नाश होने पर ही उसके कल्पित कार्य्य की निवृत्ति हो यह नियम नहीं यदि उक्त नियम होता तो दर्पणस्थ मुखके मिथ्या ज्ञान होने से प्रतिबिम्ब नाश होना चाहिये था इससे स्पष्ट सिद्ध हैकि तत्व ज्ञान के होने पर भी कई एक स्थलों में मिथ्या प्रतीति बनी रहती है, जब तक उपाधि बनी रहती है तब तक वह मिथ्या ज्ञान ज्यों का त्यों बना रहता है, इसी सिद्धान्तानुसार वेदान्तमत के तत्व ज्ञानियों को भी एकमात्र ब्रह्म के निश्चय होजाने पर भी सुख दुःख बने रहते हैं अस्तु इस का विशेष विचार हम अध्यासनिरूपण में करेंगे, यहां इतना ही उपयुक्त था कि कल्पित के अधिष्ठान के ज्ञान से कल्पित पदार्थ की निवृत्ति होजाती है, सो ब्रह्म के तत्व ज्ञान से विवेकी पुरुष को संसार बुद्धि नहीं रहती, जैसाकि विवेक चूडामणि के श्लोक से प्रतिपादान किया गया है कि रज्जु निष्ठ अज्ञान के नाश होने से जैसे सांप बुद्धि नहीं रहती, क्योंकि उस के अज्ञान नाश द्वारा रज्जु रूप अधिष्ठान का ज्ञान होगया। एवं ब्रह्मज्ञान से संसार नहीं रहता ॥

उपादान कारण के प्रसङ्ग में वेदान्त के बहुत से सिद्धान्तो का यहां निरूपण किया पर मुख्य प्रसंङ्ग यहां कारण है सो कारण दो ही प्रकार का होता है।

एक उपादान और दूसरा निमित्त उपादान कारण से भिन्न जितने प्रकार के कारण हैं उन सबको निमित्त कारण कह सकते हैं इसलिये (असमवायी) कारण और साधारण कारण के मानने की कोई आवश्यकता नहीं॥

असमवायी कारण उसको कहते हैं जो (समवायी कारण) अर्थात उपादान कारण में रहकर कार्य्य का जनक हो जैसे संयोग गुण उपादान कारण में रहकर पटादि कार्य्यों का उत्पादक होता है सो असमवाई कारण कहलाता है इसी प्रकार क्रिया भी असमवायी कारण ही होती है यह निमित्त कारण के भीतर आसकते हैं इसके भिन्न मानने की कोई आवश्यकता नहीं॥

इसी प्रकार १ ईश्वर, २ ईश्वरका ज्ञान, ३ ईश्वरकी कृति, ४ ईश्वरकी इच्छा, ५ दिशा, ६ काल, ७ अदृष्ट, ८ प्रागभाव, ९ प्रतिबन्ध का ऽभाव यह साधारण कारण भी निमित्त कारण के भीतर ही आजाते हैं इस प्रकार कारण दो प्रकार का ही होता है तीन प्रकार का नहीं॥

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धायां वेदान्ततत्व कौमुद्यां कारणनिरूपणं नाम द्वितीयः परिच्छेदः समाप्तः।

अथ अध्यास निरूपणं नाम तृतीयः परिच्छेदः प्रारभ्यते।

वेदान्त शास्त्र में जितनी अध्यास की फिलासफी गहन है इतनी और कोई बात गम्भीर नहीं पाई जाती और विलक्षणता यह है कि श्रीस्वामी शङ्कराचार्य्य ही इस वादके निर्म्माता है यद्यपि अध्यास शब्द स्वामी शङ्कराचार्य्यजी से पूर्व भी कईएक स्थानों में पाया जाता है पर जिस अर्थ में इसका प्रयोग उक्त स्वामीजी ने किया है इस अर्थ में इनसे पूर्व किसी ने भी इसका प्रयोग नहीं किया सच्च तो यह है कि फिलासफी के उच्च सिंहासन पर स्वामी शङ्कराचार्य्य जी को अध्यास की अपूर्वता अर्थात् (Orignality) आविष्कार ने ही बिठलाया है ब्रह्म सूत्रों के अन्य भाष्यों से यदि कोई शङ्कराचार्य्य जी की विलक्षणता है तो वह यही है। श्रीरामानुजाचार्य्य यदि शङ्कराचार्य्य से किसी विषय में न्यून रहे तो वह यही विषय था॥

केवल व्याकरण और न्याय के पण्डितों के पास इस अध्यास पुष्प की गन्ध को ग्रहण करनेवाला घ्राणेन्द्रिय ही नहीं होता यह कथन भी यहां ही आकर चरितार्थ होता है कि "शास्त्रेभ्यः

परिभ्रष्टा कवयोभवन्ति" कि शास्त्रों के गूढ मर्म्मों को न समझते हुए लोग काव्यों में पड़जाते हैं अस्तु यहां कवि और दर्शन शास्त्र के मर्म्मज्ञों के महत्व का प्रकरण नहीं पर तब भी इतना कहदेना उचित प्रतीत होता है कि अद्वैत सिद्धि के कर्त्ता मधुसूदन सरस्वती जैसे तर्क वाचस्पतियों को यदि किसी मोहनी मन्त्र ने मोहकर अपना अनुयायी बनाया है तो वह अध्यसवाद ही हैं अस्तु हमारे वर्णन में यह। यह त्रुटि अवश्य रहेगी कि हम जिस समय में इसको वर्णन करने लगे हैं इसमें 'अध्यास और अभ्यास'में कोई भेद नहीं समझा जाता अर्थात वेदान्त फिलासफी की युवावस्था ढल चुकी है इसलिये वेदान्त का स्वाध्याय इतना न्यून है कि अध्यास और अभ्यास में कोई भेद नहीं समझा जाता अस्तु इस निरासता की कथा क्या ? मुख्य प्रसंग यह है कि अधिपूर्वक अस इस धातु से यह शब्द सिद्ध होता है जिसके अर्थ उसके ऊपर रखने के हैं (Supringpose) सुपरिङ्गपोज़ के हैं पर इससे अपेक्षितार्थ की उपलब्धि नहीं होती हां किसी प्रकार क्लिष्ट कल्पना से यह अर्थ निकल सकते हैं कि जो किसी अधिकरण में कल्पना किया जाय अर्थात् किसी आश्रय में निवेश किया जाय उस का नाम अध्यास है जैसाकि रज्जु रूपी अधिष्ठान में सर्प की कल्पना रखदी जाती है और सीपी में चान्दी की इस शाब्दिक निर्वचन को छोड़कर अर्थात् यौगि कार्थ को छोड़ कर इसका लक्षण यह है कि (विषमसत्ताकोऽवभासः) अध्यासः

जो अधिष्ठान से विषम अर्थात उलटा होकर प्रतीत होता है उसका नाम अध्यास है ॥

कई एक ग्रन्थकार अध्यास का यह लक्षण करते हैं कि अन्यत्र अन्य धर्म्मावभासः" अध्यासः कि और में और के धर्म्मों की प्रतीति का नाम अध्यास है अस्तु उक्त दोनों ही लक्षण ठीक हैं परन्तु अध्यास क्यों होता है और इसका कारण क्या है इस बात का विचार करना यहां अत्यन्तावश्यक है और अध्यास की सामग्री क्या होती है ?

अध्यस क्यों होता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अध्यास अज्ञान से होता है जैसाकि जब रज्जु अन्धकार में पड़ा हुआ होता है और उसकी लम्बाई और गुलाई को देखकर जो अन्तः करण में सच्चे सांप के संस्कार होते हैं वह प्रगट हो आते हैं तब रज्जु में सांप प्रतीत होने लगता है ॥

इस विषय में मुख्य तीन कारण हैं। १. रस्सी के सादृश्य तादिदोष २। नेत्र इंद्रिय में मन्द दृष्टि वातिमिरादि दोष ॥ ३ । (प्रमाता) देखने वाले में सर्प के दंश से मृत्यु आदि का भय, इन तीन दोषों से अध्यास होता है ।

भाव यह है कि (प्रमाता) द्रष्टा अर्थात देखने वाला (प्रमाण) नेत्रादि इन्द्रिय (प्रमेय) दृश्य पदार्थ जो साम्हने पड़ा हुआ देखा जाता है, इन तीनों के दोषों से बिना अध्यास कदापि नहीं होता अर्थात् प्रमाताप्रमाण प्रमेय इन तीनों के दोषों से ही अध्यास होता

है अन्यथा नहीं शास्त्रीय परिभाषा में इन तीनों को प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय, कहते हैं, और ज्ञाता ज्ञान, ज्ञेय, भी इन को कह सकते हैं। अर्थात् (ज्ञाता) जानने वाला ज्ञान जिस से जाना जाय और (ज्ञेय) जो जानने योग्य ज्ञान का विषय हो, अस्तु मुख्य प्रसङ्ग यहां यह है कि इन तीनों के दोषों से ही अध्यास होता है अन्यथा नहीं।

जब उक्त सिद्धान्त दृढ़ होचुका कि उक्त प्रकार के तीन भेदों से ही अध्यास होता है तो फिर अद्वैतवाद कहां रहा क्योंकि जब तक कोई सच्चा सांप न हो जो पहले देखा हो, और इसी प्रकार देखने वाले से भिन्न कोई बाह्य वस्तु न हो और देखने वाले के (करणों) अर्थात् इन्द्रियों में कोई दोष न हो तो अध्यास कैसे ?

इन प्रश्नों का उत्तर वेदान्ति बड़ी उत्तमता से देते हैं कि यह नियम नहीं कि जहां तीनों पदार्थ परस्पर भिन्न हों वहां ही अध्यास हो देखो स्वप्न में स्वप्न का द्रष्टा एक ही है आप ही देखता है, आप ही देखने वाला है और आप ही देखा जारहा है, जैसा एक ही स्वप्न के द्रष्टा में अपने में अपना अध्यास होता है एवं एक ही ब्रह्म में इस विविध रचनायुक्त चित्र विचित्र संसार का अध्यास हो सकता है, इस में कोई दोष नहीं।

चौपाई।

अधिष्ठान जड़ वस्तु जहां है,
द्रष्टा तांते भिन्न तहां है।

जहां होय चेतन आधारा,
तहां न द्रष्टा होवे न्यारा ॥

इस में यह स्पष्ट कर दिया कि जहां किसी जड़ वस्तु में किसी अन्य वस्तु का भ्रम हो वहां ही द्रष्टा दृश्य के भेद की आवश्यकता होती है, तत्यत्र नहीं। प्रकृत में जब एक अद्वयघन चैतन्य वस्तु हुआ तो उक्त भेद की क्या आवश्यकता, इस भाव को महर्षि व्यास ने साधन सामग्री के वर्णन में स्पष्ट कर दिया कि एक ब्रह्म में किसी साधन वा भेद की आवश्यकता नहीं।

"आत्मनिचैवं विचित्राश्चहि" वसू० २।१।१८ अर्थ स्वप्नावस्था में एक जीव के आत्मा में ही विचित्र सृष्टियें उत्पन्न होजाती हैं किसी पदार्थान्तर की वहां आवश्यकता नहीं होती इस प्रकार अध्यास के लिये प्रमाता और (प्रमेय) अर्थात् विषय के भेद की कोई आवश्यकता नहीं।

अब रही यह बात कि जब तक प्रमाता के हृद्गत भयादि दोष नहीं तो रज्जु में सांप कैसे? इसी प्रकार ब्रह्म में यह भयङ्कर विषधर संसार सर्प कैसे? इस का उत्तर वेदान्ति यह देते हैं कि ब्रह्म में माया रूपी दोष ने ऐसा भान करा दिया जैसे स्वप्न में अविद्या दोष जीव को स्वप्न भान करा देता है एवं ब्रह्म में स्वप्न रूपसंसार का भान करा दिया इस लिये प्रमातागत दोष का तो उत्तर होगया। रहा प्रमाणगत दोष, कि ब्रह्म की इन्द्रियों में ऐसी क्या कमज़ोरी थी जिस से उसे मिथ्या ज्ञान होगया इस का उत्तर

वेदान्ति यही देते हैं कि वह भी माया, अर्थात् जगत् कर्त्ता ईश्वर का नख से शिख तक सारा संघात ही माया से मिल कर बना है तो उस के इन्द्रियों में स्वतः सिद्ध ही यह दोष आगया कि वह मिथ्या भी दीखे क्योंकि उस माया की १ आवर्ण और दूसरी २ विक्षेप शक्ति है, पहली (वस्तु) सद्वस्तु को ढक लेती है, और दूसरी विक्षेप उत्पन्न करके उलटी प्रतीति कर देती है, इस कारण मिथ्या ज्ञान होजाता है, इत्यादि दोषों से अपने में अपना भ्रम आप होजाता है जैसे कि "ब्राह्मणोहं क्षत्रियेहम्" इत्यादि बाह्य धर्म्मों का अध्यास निज आत्म स्वरूप में होजाता है परन्तु वह प्रश्न ज्यों का त्यों बना रहता है कि क्यों होजाता है एक उत्तर तो इसका यह दिया गया कि माया की आवर्ण शक्ति ने ब्रह्म के स्वरूप को ढांप लिया और विक्षेप शक्ति ने उसमें उलटी प्रतीति करा दी पर वह आवर्ण और विक्षेप शक्तिमती श्रीमती माया ब्रह्म में कहां से आविराजमान हुई ? इस बात का स्पष्ट उत्तर आना चाहिये एक उत्तर तो वेदान्ति यह देते हैं कि वह माया अनादि भाव रूप और सान्त है अर्थात् अनादि काल से चली आती है और है भी भाव रूप अर्थात् अभाव नहीं पर ब्रह्म का तत्व ज्ञान होने से मिट जाती है इसलिये सान्त है अर्थात् अन्त वाली है ॥

यह उत्तर भाव और सान्त होने में तो ऐसा निर्बल नहीं जैसा अनादि होने में है क्योंकि यदि अनादि काल से ब्रह्म में है तो फिर अनादि काल से ही उसके स्वरूप को ढककर विक्षेप

वाला क्यों नहीं बना देती अर्थात् अनादि काल से ही ब्रह्म अज्ञानी होकर जगत् रूप क्यों नहीं बना रहता इस पक्ष में तो कुमारिल भट्टादिक मीमांसिकों के समान सृष्टि अनादि काल से स्वयं सिद्ध होनी चाहिये अर्थात् इसका कोई भी कर्त्ता नहीं मानना चाहिये ॥ जैसाकि कुमारिल भट्ट ने अपने तन्त्र वार्त्तिक में लिखा है कि:—

एवं येतुक्तिभिराहुस्तेषाहुर्ल्लभमुत्तरमन्वेष्यः
व्यवहारेयमनादिर्वेद वादिभिः ॥

अर्थ–इस श्लोक से पूर्व युक्तियें यह दी है कि शब्द नित्य है और शब्द तथा अर्थ का सम्बन्ध भी नित्य है इसलिये वेद अनन्त है अर्थात् किसी पुरुष का बनाया हुआ नहीं शब्दार्थ का सम्बन्ध तभी नित्य होसकता है जब सृष्टि नित्य हो अर्थात् सृष्टि के नित्य होने पर ही वेद नित्य ठहर सकते हैं अन्यथा नहीं ॥

अन्य युक्ति ईश्वर के खण्डन में यह दी है कि जो कार्य्य के कर्त्ता होने से ईश्वर सिद्ध किया जाता है तो जितने कार्य्य संसार में देखे जाते हैं वह सब अल्पज्ञ कर्त्ताओं के बनाए हुए हैं एवं जन्म मरणधर्म्मा मनुष्य की बनावट है तो फिर ऐसे दृष्टान्तों से तो ईश्वर भी ऐसा ही सिद्ध होगा अर्थात् कुमारिल भट्ट ने इस स्थल में ईश्वर का खण्डन करके संसार को अनादि सिद्ध किया है इसलिये उक्त श्लोक में यह लिखा है कि ऐसी युक्ति देकर जो ईश्वर का खण्डन किया है उनका उत्तर बहुत दुर्लभ है,इसलिये इस संसार को अनादि मानना ही ठीक है इस मत का हमने न्यायार्य्यभाष्य में

विस्तार पूर्वक खण्डन किया है जो देखना चाहें वे वहां देखलें यहां प्रसंग यह है कि माया को अनादि मानने पर उक्त मत के समान संसार अनादि सिद्ध होजायगा और दोष मायावाद में यह आता है कि :—

स्वपंच शुद्धरूपत्वात् असत्वाच्चान्यवस्तुनः स्वप्नादिवदविद्यायाः प्रवृत्ति स्तस्याः किंकृता ॥१॥ अन्येनाप्यभ्युपेतेद्वैतवादः प्रसज्यतेस्वाभाविक्यामविद्यान्तुनोच्छेतुंकश्चिदर्हति ॥ २ ॥

विलक्षणेपपातेहीनश्येत स्वाभाविकी क्वचित् नह्योकात्माभ्युपायानां हेतुर स्तिविलक्षणः ॥

अर्थ—जब ब्रह्म स्वयं शुद्ध रूप है और कोई वस्तु उसके पास वा उसमें नहीं और अविद्या स्वप्नादि अवस्थाओं के समान है तो फिर उसमें (प्रवृत्ति) अर्थात् क्रिया किसने की । भाव यह है कि स्वप्न में सोने के लिये भी पुरुष प्रवृत्त होता है तभी उसको नींद आती वह प्रवृत्ति नींद से प्रथम किसने कराई ॥१॥

यदि कहा जाय कि किसी और वस्तु ने ब्रह्म की प्रवृत्ति करादी तो द्वैत वाद का दोष आता है अर्थात् कोई दूसरा था तो उसने ब्रह्म को सोगी की सलाह दी यदि अविद्या अर्थात् माया को उसमें स्वभाविक मानलिया जाय तो इस कलंक कोई भी दूर न करसकेगा ॥२॥

क्योंकि किसी विलक्षण उपाय से ही स्वाभाविक दोष दूर हो सकता है और एक अद्वैत तत्व मानने वालों के मत में ब्रह्म से भिन्न अन्य कोई वस्तु है नहीं फिर स्वाभाविक दोष दूर कैसे हो? ॥१॥

यह कुमारिल भट्टाचार्य्य ने अपने वार्त्तिक नाम ग्रंथ में माया-वाद का खण्डन किया है।

यह भी स्मरण रहे कि यहां माया के लिये अविद्या शब्द व्यवहार में लाया गया है, कारण यह कि माया, अविद्या, अज्ञान, यह तीनों पर्य्याय शब्द हैं इसी अभिप्राय से उपनिषद्कारों ने यह माना है कि "माया च अविद्या च स्वयमेव भवति।

अस्तु प्रकृत यह है कि कुमारिलभट्ट ने मायावाद का बलपूर्वक खण्डन किया है इस में कुछ सन्देह नहीं।

यहां इस शङ्का का मिटाना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि कुमारिलभट्ट के समय में इतना मायावाद का प्रचार कैसे होचुका था जिसका खण्डन कुमारिलभट्ट को भी करना पड़ा इस का उत्तर यह है कि गौड़पादाचार्य्य की कारिकायें कुमारिलभट्ट से प्रथम बन चुकी थीं, जिन को मायावादकीनीं कहना चाहिये, जिन परलोक प्रसिद्ध अद्वैतविद्याचार्य्य श्री शङ्कराचार्य्य जीने यह विशाल अद्वैतवाद का मन्दिर बनाया है, तथास्तु प्रसङ्ग यह है कि उक्त युक्तियों का वेदान्ति क्या उत्तर देते हैं कि अज्ञान ब्रह्म को क्यों हुआ? ॥१॥

और स्वाभाविक होने से फिर अज्ञान का नाश कैसे हो सकता है? ॥२॥

स्वतः प्रकाश ब्रह्म में तमोरूप अज्ञान कैसे ॥ ३ ॥

और यदि अज्ञान किसी और अज्ञान से वह और अज्ञान से एवं अज्ञानों की धारा अनवरत प्रवाह से मानी जाय तो फिर कौन सा अज्ञान सब से प्रथम रहा अथवा सभी अपनी अपनी दशा में एक दूसरे का कार्य्य होने से सादि है।

ऐसा मानने पर अज्ञान अनादि भाव रूप न रहा ॥ ४ ॥

अब हम इन चारों प्रश्नों के उत्तर वेदान्तियों की रीति और अपने अनुभव से देते हैं।

१ नासदासीन्नोसदा सीत्तदानीं ऋ १०,११,१२९

पदच्छेद। न। असत्। आसीत्। नो इत्ति। सत्। आसीत्। तदानीं ॥

अर्थ यह ना असत् तुच्छ कुछ वस्तु न होना और नाहीं (सत्) सच्चा था, (तदानीं) प्रलयकाल में इस से वेदान्ती अपने अनिर्वचनीय माया वा अज्ञान की सिद्धि करते हैं कि अज्ञान न सच्चा है और न झूठा है किन्तु सत् असत् से विलक्षण है, जब वह अनिर्वचनीय वस्तु है तो उस के आने न आने का प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता,क्या ? कोई कह सकता है कि आकाश में नीलिमा कब से आई और उस में तम्बू के समान पृथिवी के साथ आलगना कब से आया, इत्यादि भ्रम जैसे अनादि सिद्ध हैं इसी प्रकार अज्ञान भी अनादि सिद्ध वस्तु है उस के आने जाने का प्रश्न नहीं होसकता

और ब्रह्म को यह इस लिये भान हुआ कि ब्रह्म एक चित् पदार्थ है अर्थात् अनुभवरूप है, उस से भिन्न यह सब संसार जड़वस्तु है, अर्थात् परतः प्रकाशमान है इस लिये उस का अनुभव कर्त्ता ब्रह्म ही है अन्य कोई वस्तु नहीं।

वेदान्तियों की प्रक्रिया के अनुसार इस प्रथम प्रश्न का उत्तर यह है कि ब्रह्म में अज्ञान स्वाश्रय स्वविषय होकर रहता है, अर्थात् ब्रह्म ही उस अज्ञान का आश्रय ठहरने का स्थान है और ब्रह्म ही उस का अनुभव कर्त्ता है अर्थात् ब्रह्म ही उस का ज्ञाता है, दृष्टान्त इस में यह है कि प्रकाश में बनाए हुए मठ की चार दिवारी में जैसे उसी आश्रय से उत्पन्न हुआ अन्धकार उसी को आछादन कर लेता है इसी प्रकार ब्रह्माश्रित अज्ञान भी उसी का आच्छादक है।

भाव यह है कि जिस प्रकार मठ वा घट की चारों ओर की गुलाई का स्वभाव ही अन्धकार को उत्पन्न कर लेता है एवं ब्र का स्वभाव ही अज्ञान को बना लेता है, सार यह निकला कि अज्ञान ब्रह्म की स्वात्म भूत शक्ति है जो सब प्रकार के बलों का केन्द्र है इसी अभिप्राय से उपनिषद् कार ने कहा है कि "स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च" अर्थ ब्रह्म का ज्ञान बल तथा क्रिया यह तीनों स्वाभाविक हैं यदि यहां यह कहा जाय कि यहां अज्ञान का नाममात्र से भी कथन नहीं तो उत्तर यह है कि "नीहारेणप्रवृत्ता। तुच्छेनाम्वपहितम् ऋ० मं० १० । ११ । १२६

इत्यादि वेद मन्त्रों में तुच्छ और नीहार शब्द से अज्ञान का

कथन स्पष्ट है और उपनिषदों में तो "माया च अविद्या च स्वयमेव भवति" इत्यादि स्थलों में स्पष्ट रीति से ब्रह्म में अज्ञान का वर्णन किया गया है।

और अज्ञान ब्रह्म में क्यों हुआ इस का उत्तर आकाश की नीलीमा और गुलाई के दृष्टान्त से हम भली भांति दिखा आए हैं।

अन्य उत्तर यह है कि अज्ञान स्वरूपभूत होने से स्वपर का निर्वाहक आप ही है, अर्थात् अपने आप की सिद्धि करने वाला आप ही है जैसा कि:—

श्लोकः।

भेदश्च भेद्यश्चभिनत्तिभेदोयथैव भेदान्तरमंतरेण। मोहश्चकार्य्यश्च विभर्त्तिमोहस्तथैव मोहांतर मंतरेण॥

अर्थ जिस प्रकार से भेद अपने आप का भेदक आप है, इसी प्रकार (मोह) अज्ञान भी अपने आप का कल्पक आप ही है, इस का नाम प्रतिवादी उत्तर है। अर्थात् जैसे यदि कोई भेदवादियों से भेद के विषय में यह पूछे कि भेद तो घट और पट को आपस में एक दूसरे से भिन्न कर्त्ता है पर उस भेद को भेद को आश्रयरूप उन दो पदार्थों से कौन भिन्न कर्त्ता है तो भेद वादी यही उत्तर देते हैं कि एक ही भेद उन दोनों को भी भिन्न कर्त्ता है और अपने आप को भी वही भेद भिन्न कर लेता है इस में कोई दोष नहीं इसी

इस प्रकार अज्ञान भी अपने आप अपने को कल्पना कर लेता है यह ऊपर के श्लोक का आशय है।

यदि यह कहा जाय कि अज्ञान जड़ है फिर अपने आप का आप कल्पक है कैसे? इस का उत्तर यह है कि हिन्दू शास्त्र में मन, बुद्धि, अन्तः कारण सभी जड़ हैं फिर इन में जानने और कल्पना करनेकी शक्ति कैसे? यदि यह कहा जायकि ये सब तो आत्माके सहारे से कल्पना करते हैं तो वेदान्ती भी यही कहते हैं कि अज्ञान आत्म के सहारे से कल्पना करता है, और अपना कल्पक आप है इसको एक भाषा का कवि यों समर्थन करता है।

चौपाई

स्वपर का निर्वाहिक सोई।
तामें हेत अवरनहिं कोई॥
घट के भेद विषघट भेदा।
ते दोनों के मते अभेदा॥
साधकबाधक एक समाना।
तांतेसो उरअन्तर आना॥
याविधि सिद्ध भयो अध्यास।
तांलक्षण अब करों प्रकाश॥

अर्थ—वादी से यह कहा है कि यदि तू यह कहे कि अध्यास किस अज्ञान से हुआ तो उत्तर यह है कि जैसे तुम्हारे मतें

'घटके भेद विषेघट भेद' घटको भिन्न करने के लिये जो भेद है वही भेद, धर्म्मी को भी भिन्न कर्त्ता है उदाहरण यह है कि "पटात् घटोभिन्नः" जहां एसी प्रतीति होती है वहां पर घटधर्म्मी कहलाता है और पट प्रतियोगी जो किसी वस्तु से भिन्न कहा जाय अर्थात् भेद वाला कहा जाय उसको धर्म्मी कहते हैं और जो उस भेद का निरूपक हो उसको प्रतियोगी कहते हैं इस प्रकार घट धर्म्मी और पट प्रतियोगी ठहरा इस स्थल में घट पट को आपस में भिन्न भी करने वाला एक भेद पदार्थ तीसरा है यदि कोई पूछे कि उस भेद रूपी तीसरे पदार्थ को उक्त धर्म्मी और प्रतियोगी से कौन भिन्न कर्त्ता है तो उत्तर यही दियाजाता है कि जो उन दोना में भेद करने वाला भेद है वही अपने आपको भी आप ही भिन्न कर्त्ता है इसी प्रकार हमारे मतमें अज्ञान भी अपने आपको आपही उत्पन्न करता है उसका उत्पन्न करने वाला कोई और अज्ञान नहीं किन्तु वही अज्ञान है यह गुण दोष दोनों के मतमें एक जैसा है इसलिये कोई दोष नहीं ॥

भाव यह है कि अध्यास क्यों होता है ? इसका उत्तर यही है कि अध्यास स्वतः सिद्ध स्वाभाविक है इसीलिये अद्वैत विद्याचार्य्य भाष्यकार श्री शङ्कराचार्य्य जी ने यह कहा है कि "नैसर्गिकोयंलोकव्यवहारः" कि ब्राह्मणोहं क्षत्रियोहं गौरोहं स्थूलोहं (अहमिदं) (ममेदं) यह मै हूं और यह मेरा है यह लोक व्यवहार स्वाभाविक है। रहा दूसरा प्रश्न कि स्वाभाविक अज्ञान का

नाशे कैसे? इसका उत्तर यह है कि यदि कोई स्वाभाविक वस्तु हो तो उसका नाश नहीं होता क्योंकि वह अपना स्वरूप होती है पर अज्ञान तो कोई वस्तु नहीं किन्तु अनिर्वचनीय है इसलिये स्वयं ही दृश्य नष्ट स्वरूप है क्या मृग तृष्णा के जलका शुक्ति रजत और रज्जु सर्प का नाश नहीं होता यह सब स्वाभाविक अज्ञान ही तो है इस प्रकार स्वाभाविक अज्ञान का भी नाश होजाता है इसमें कोई बाधा नहीं ॥

अब रहा तीसरा प्रश्न कि प्रकाश स्वरूप में अज्ञान कैसे इसका उत्तर यह है कि स्वत: प्रकाश में वास्तव में अन्धकार नहीं होता पर यदि कोई अदृष्टवश जन्मान्ध हो वातिमिरादि दोष दूषित नयन हो तो क्या उसकी दृष्टि में भी स्वयं प्रकाश सूर्य्यादिकों में अन्धकार नहीं होता ॥

भाव यह है कि कल्पित अन्धकार स्वयं प्रकाश में भी हो जाता है जैसे कि उल्लूक पक्षि विशेषों स्वयं प्रकाश सूर्य्य में भी अन्धकार भान होता है वास्तव में नहीं। इस विषय में एक भाषा कवि का कथन यह है ॥

चौपाई

तात्विक तमको सविता टारे।
कल्पित को रविनाह निवारे ॥

पेचक ने तम कल्पा जोई ।
सो सविता के भीतर होई ॥
या विधि ब्रह्म मांह तम गाया ।
है कल्पित नहीं नात्विक माया ॥

कवि सुन्दरदासजी ने समस्या देकर इसको यों वर्णन किया है कि—

"भूल गयो भ्रमते ब्रह्म आपे"

सवैया

ज्यों कूप में झांक अलापत,
ऐसे ही भान्ती सोकूप अलापे ।
ज्यों जल हालत है लगयौ न,
सुलोग कहें प्रति बिम्ब ही कांपे ॥
देह के प्राण के औ मन के,
वस मानत है सब मोहि को व्यापे ।
सुन्दर पेच परियो अति शयकर,
भूल गयो भ्रमते ब्रह्म आपे ॥

चौथा प्रश्न यह था कि जब मिथ्या ज्ञान से अध्यास उत्पन्न होता है तो फिर अध्यासरूप अज्ञान अनादि कैसे रहा और भाष्य-

कार ने यह स्पष्ट कहा है कि "मिथ्या ज्ञान निमित्तः" अर्थात् अध्यास का मिथ्या ज्ञान ही निमित्त है भाव यह है कि अध्यास मिथ्या ज्ञान के बिना कदापि नहीं होता जब मिथ्या ज्ञान पहले होता है तो अध्यस होता है ॥

वह मिथ्या ज्ञान किसी और मिथ्या ज्ञान से होता है वह किसी और से इस प्रकार एक अज्ञान से एक एक से एक यह धारा चली चलने से अनवस्था दोष आता है ॥

यदि यह माना कि वह अज्ञान अपने आप को आप उत्पन्न कर लेता है तो आत्मा श्राप दोष आता है। इसका उत्तर यह है कि स्वयं सिद्ध वस्तु में आत्माश्रय दोष नहीं आता यदि स्वयं सिद्ध में आत्माश्रय दोष आया करे तो परमात्मा और जीवात्मा में भी उक्त दोष लगना चाहिये कि परमात्मा अपने आप के सहारे पर आप रहता है एवं जीवात्मा भी नित्य होने से अपने सहारे आप रहता है यहां आत्माश्रय दोष इसलिये नहीं कि यह दोनों स्वयं सिद्ध वस्तु है एवं अज्ञान भी स्वभाविक होने से स्वयं सिद्ध है॥

यद्यपि स्वाश्रय और स्वविषय मानकर अज्ञान को वेदान्तियों ने ब्रह्माश्रित माना है तथापि ब्रह्म उस अज्ञान का उत्पादक नहीं किन्तु वह सद् असद् वस्तु से विलक्षण अनादि भाव रूप है यह हम अनेक स्थलों में लिख आए हैं, यहां यह दिखलाना शेष है कि अध्यासरूप अज्ञान के कितने भेद हैं।

यों तो अध्यास के सहस्रों भेद हैं अर्थात् जितने अध्यास के स्वरूप हैं उतने ही भेद हैं पर मुख्यतया अध्यास के दो भेद हैं।

१ स्वरूपाध्यास । २ संसर्गाध्यास ।

"ब्राह्मणोहं क्षत्रियोहं" मैं ब्राह्मण हूं, मैं क्षत्रिय हूं इत्यादि धर्म्म ब्रह्म में स्वरूप से ही अध्यस्त अर्थात् मिथ्या हैं इस लिये इस अध्यास का नाम स्वरूपाध्यास है, जो वस्तु अपनी सत्ता से ही मिथ्या हो उस के मिथ्या होने को स्वरूपाऽध्यास कहते हैं यह सब संसार ब्रह्म में स्वरूप से ही अध्यस्त है इस लिये इस अध्यास को स्वरूपाऽध्यास कहेंगे ।

"अहं शरीरं" मैं यह शरीर हूं यह संसर्गाऽध्यास है अर्थात शरीर के साथ सम्बन्ध होने से ऐसी प्रतीति होती है, और "पुत्र भार्य्यादिषुकिक्लेषु अहमेवविक्लः" अर्थ पुत्र अथवा स्त्री आदिकों के नष्ट होने से जो अपना नाश मानने लग जाता है वह भी "संसर्गाऽध्यास है" यहां विवेक यह है कि जहां कल्पित वस्तु का आत्मा में आरोप होता है उस का नाम स्वरूपऽध्यास है, और जहां व्यवहारिक सद् वस्तु के साथ आत्मा का सम्बन्ध प्रतीति होता है, उस का नाम सम्बन्धाध्यस वा संसर्गाध्यस है । जैसे कि "ब्राह्मणोऽहं, क्षत्रियोऽहम्" कि मैं ब्राह्मण हूं, और मैं क्षत्रिय हूं, यहां ब्राह्मण दिवर्ण श्री आत्मा में तादात्म्य भाव को विषय करते हैं परन्तु वास्तव में आत्मा का स्वरूप नहीं अर्थात् इन का आत्मा में संसर्गाध्यास है ।

स्पष्ट विवेचना यह है कि स्वरूपाऽध्यास उस को कहते हैं जो वस्तु स्वरूप से मिथ्या हो और किसी आगन्तुक दोष से प्रतीत हो अर्थात प्रातिभासिक हो, जैसे कि रज्जू सांप और शुक्ति में रजत होता है ऐसे कल्पित पदार्थ सब स्वरूपाऽध्यास के उदाहरण हैं।

जो भाष्यकार ने यह कहा है कि-"एकश्चन्द्रः सद्वितीयवत्" एक चान्द दो प्रतीते हैं, यह भी शुक्तिरजत् वत् स्वरूपाअध्यास है।

अध्यास के मुख्य दो ही भेद हैं। १ स्वरूपाऽध्यस, और २ दूसरा संसर्गाऽध्यास, जिस को सम्बन्धाअध्यास भी कह सकते हैं। इन से भिन्न अर्थाध्यास, ज्ञानाध्यास धर्म्माऽध्यासादि अनेक अध्यास के उदाहरण है जिन को उक्त दो के भीतर लासकते हैं।

भाष्यकार ने यह माना है कि जब सद् और असद् वस्तु को आपस में मिला दिया जाता है तब अध्यास होता है अर्थात् अन्य में अन्य बुद्धि का नाम अध्यास है इस में यह आशङ्का उत्पन्न होती है कि जहां अनात्मा का आत्मा में अध्यास हुआ, वहां तो अनात्मा आत्मा में मिथ्या हुआ, अर्थात रज्जू सर्प के समान कल्पित हुआ पर जहां आत्मा का अनात्मा में अध्यास हुआ वहां आत्मा भी कल्पित मानना पड़ेगा ?

इस का उत्तर यह है कि जहां अनात्मा का आत्मा में अध्यास है वहां अनात्मा कल्पित है और जहां आत्मा का अनात्मा में अध्यास है वहां संसर्गाऽध्यास है अर्थात सम्बन्ध मात्र का अध्यास है इसलिये आत्मवस्तु में कल्पित होने का दोष नहीं आता।

यह विचार अतिसूक्ष्म है इसको पञ्च पादिकाचार्य्य ने भलि भान्ति वर्णन किया है और उसके टीका विवरण में इसका बहुत विस्तार है जो विस्तार होने के कारण तथा सूक्ष्म होने के कारण यहां नहीं लिखा जाता।

मुख्य प्रसङ्ग यह है कि स्वामी शङ्कराचार्य्य जी ने इस फिलासफी को अपने मस्तिष्क से निकाला है उनसे प्रथम इसका कहीं भी पता नहीं मिलता चारोंवेद चारों वेदोंके ब्राह्मण स्मृति सूत्र इनमें कहीं भी इस फिलासफी का गन्ध नहीं और तो क्या गौड़ पादाचार्य्य की कारिकायों में भी अध्यास शब्द नहीं। कहीं कहीं सांख्य सूत्रों में अध्यास का प्रयोग आया है पर वहां भी इस फिलासफी के अभिप्राय से नहीं यह दान श्रीशङ्कराचार्य्य जी ने ही संसार भर को दिया है कि इस प्रकार अध्यस्त पदार्थोंमें फसकर आत्मा दुःखी सुखी होता है और अध्यास के मिटजाने से पूर्ण आनन्द रूप हो जाता है इसीलिये एक कविने कहा है कि:—

चौपाई

भाष्यकार श्रीशङ्कर नामा।
सर्व करें जिंह पद परणामा॥
तिन यह व्यास सूत्रमें गायो।
भाष्य शरीरक माह बतायो॥
आत्म और अनात्म जोई।
मिले परस्पर दोनों सोई॥

अन्योन्या यह भयउ अध्यास ।
सत्यानृत्य मिथुन प्रकाश ॥

भाष्यकार श्रीशङ्कराचार्य्यजी जिनकी वेदान्त फिलासफी के आगे सम्पूर्ण संसार सिर झुका रहा है उसने अपने भाष्य की चतुः सूत्री में यह कहा है कि "सत्यानृते मिथुनी कृत्य अहमिदं ममेदमिति नैसर्गिकोयं लोकव्यवहारः" कि मैं यह हूं और यह मेरा है ऐसा मनुष्य मात्र में व्यवहार होता है आत्मा शरीरादिक अनित्य पदार्थों के सम्बन्ध से अपने आपको अनित्यमान बैठता है इन्ही की सङ्गति से अपने आपको दुःखी सुखी मान बैठता है कोई अपने आपको अत्यन्त निर्बल और सदा के लिये रोगी मानलेता है कोई भोगी मानलेता है कि अमुक वस्तु के भोग से बिना मैं कभी रह ही नहीं सकता बहुत क्या ? बालक के समान इस संसार के खिलौनों को सत्य समझता हुआ उनके साथ अपने आपको बांध देता है इसी प्रकार इस अनात्म पदार्थ शरीर के साथ आत्मा बंधा हुआ है वास्तवमें आत्मा लोह पिंड की अग्नी के समान इस शरीर पिण्ड से अत्यन्त भिन्न है जैसाकिः—

सवैया

ज्योंनर पावकलोहतपावत पावकलोहमिलेसुदिखांहीं ।
चोट अनेक परेघनकी तब लोहबधे कछुपावक नाहीं ॥
पावकलीन भयो अपनेघर शीतल लोहभयो तबताईं।
त्यों यह आत्मदेह निरन्तर सुन्दर भिन्नरहा मिलमाहीं॥

जैसे लोहे के गोले में अग्नि लोहे के सम्बन्धसे चोटें सहारता है एवं यह आत्म भी शरीर के सम्बन्ध से सुखी दुःखी होता है ॥

प्रकृत यह है कि यह अध्यास का अति सुन्दर विचार सुन्दर जैसे भाषा के कवियों ने भी भाष्यकार शङ्कर की कृपा से अति सुन्दर लिखा हैं। अस्तु वेदान्त का सिद्धान्त यह है कि इस अध्यास के मिट जाने से शरीर के रहते हुए भी विद्वान् पुरुष अशरीरी हो सकता है इसलिये भाष्यकार ने यह कहा है कि "जीवतोषि विदुषः अशरीरत्वं" कि जीते हुए विद्वान का भी यह शरीर ज्ञान से मिट सकता है यहां स्वयं भाष्यकार यह प्रश्न उठाते हैं कि यह शरीर तो कर्म्मों के द्वारा जीव को प्राप्त हुआ है फिर ज्ञान से कैसे मिट सकता है? इसका उत्तर यह दिया है कि यदि यह शरीर कर्म्मों से मिटना माना जाय तो वह कर्म्म ही पहले पहल कैसे बिना शरीर से किये गए यदि कहो कि वह कर्म्म भी किसी शरीर से किये थे तो फिर वह शरीर किन कर्म्मों से इस प्रकार पहले कर्म्म हों तो शरीर हो और शरीर पहले हो तो उसके द्वारा कर्म्म किये जायं इस प्रकार एक दूसरे के सहारे को ढूंढ़ेगा इसका नाम अन्योन्याश्रय दोष है इस से सिद्ध हुआ कि कर्म्मों के द्वारा शरीर का मानना ठीक नहीं।

स्वप्न रचित हाथी घोड़ों के समान यह शरीर अज्ञान से बना है यह वेदान्त का सिद्धान्त है और तत्वज्ञान से रज्जु सर्प के समान मिट जाता है यहां यह आशङ्का होती है कि रस्सी का सांप तो स्पष्ट दीखता है कि रस्सी के तत्व ज्ञान से मिट गया पर यह

शरीर तो ज्यों का त्यों बना रहता है फिर इसका मिटना कैसे? माना जाय इसका उत्तर यह है कि धनी पुरुष को जो अपने धन के संग्रह से दुःख होता है वह जब संन्यासी होकर उस धन के धनी होने के अभिमान को मन से त्याग देता है फिर उसको उस धन के होते हुए भी धन का दुःख नहीं होता।

भाव यह है कि मन के धनी मानने से दुःख था मन के त्याग से वह मिट गया इसी प्रकार जब ममता त्याग दी तो शरीर मिट जाता है क्योंकि मिथ्या अभिमान ही सम्बन्ध का हेतु था सो तत्व ज्ञान से मिट गया इसी विषय पर भाष्यकार ने कहा है कि "मिथ्याभिमानस्तु प्रत्यक्षः सम्बन्ध हेतु" मिथ्याभिमान ही शरीर के सम्बन्ध का हेतु प्रसिद्ध है॥

कई एक लोग यहां यह आशङ्का करते हैं कि जिसका नाम वेदान्तियों ने अन्योन्याध्यास रक्खा है वह अध्यास नहीं गौणी वृत्ति से गौण प्रत्यय होता है जैसे कि सिंह के शूरता क्रूरतादि गुणों के कारण उन गुणों वाले पुरुष को भी सिंह कह दिया जाता है एवं ब्राह्मणात्वादि गुणों के कारण 'ब्राह्मणोहं' ऐसी प्रतीति होती है और (अहमिदं) मैं यह देह हूं यहां भी देह के बढ़ने घटने आदि गुणों का आत्मा में आरोप किया गया है इसलिये जहां जहां मिथ्या व्यवहार होता है वहां सर्वत्रैव गौण ज्ञान होता है अर्थात अन्य पदार्थ के गुण उसमें आरोप कर लिये जाते हैं कोई पदार्थ भी संसार में मिथ्या नहीं यदि इस सिद्धान्त को मान लिया जाय तो

वेदान्त फिलासफी का बनावना सब मन्दिर ही गिर जाना है इस का उत्तर भगवान भाष्यकार ने यह दिया है कि जहां मिथ्या प्रत्यय होता है वहां (गौण) गुणों के सम्बन्ध से ज्ञान नहीं माना जासकता गुणों के सम्बन्ध से अर्थात् उपचार से वहां ही गौणी वृत्ति मानी जासकती है जहां दो वस्तु परस्पर अत्यन्त भिन्न हो जैसे सिंह और देवदत्त वा यज्ञदत्त परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं इसलिये सिंह के गुण उस पुरुष में आरोप कर लिये जाते हैं पर यहां तो रज्जु से वह कल्पित सांप भिन्न नहीं जिस की रज्जु में कल्पना हैं किन्तु वह अनिर्वचनीय है अर्थात् मिथ्या है इसी प्रकार यह देहादि भी आत्मा में मिथ्या ही प्रतीत होते हैं, गौणीवृत्ति से नहीं यदि गौणीवृत्ति से होते तो अधिष्ठान के ज्ञान से नाश कदापि न होते, क्योंकि मिथ्या का लक्षण यह है कि जो वस्तु (ज्ञान से मिट जाय) वह मिथ्या होती है मिथ्या का यह लक्षण इस लिये पूरा नहीं कि कहीं २ ज्ञान भी ज्ञान से मिट जाता है कि जैसे किसी पुरुष को पहले घट का ज्ञान हुआ पर फिर जब उस पुरुष को पट का ज्ञान होगया तो पहला ज्ञान उस पट ज्ञान से ही मिट गया, इस लिये मिथ्या का लक्षण यह होना चाहिये कि "अधिष्ठानज्ञानबाध्यत्वं मिथ्यात्वम्" कि जो वस्तु अधिष्ठान अर्थात् जिस अधिकरण में वह प्रतीत हुई है, उस के ज्ञान से मिट जाय उस को मिथ्या कहते हैं मिथ्या और प्रातिभासिक एक ही वस्तु को कहते हैं, व्यावहारिक और प्रातिभासिक इन दोनों के लक्षण भिन्न २ इस प्रकार हैं कि जो पदार्थ आगन्तुक

अज्ञानसे प्रतीत हो वह मिथ्या होता है जैसे स्वप्नेके पदार्थ अगन्तुक निद्रा दोष से प्रतीत हुए हैं और उस दोष के मिट जाने से मिट मिट जाते हैं, वा यों कहो कि तूलाऽविद्या के जो कार्य्य होते हैं वह प्रातिभासिक होते हैं।

व्यावहारिक वह पदार्थ वह होते हैं जो आगन्तुक दोष से प्रतीत न हुए हों किन्तु अनादि भावरूप जो अज्ञान है उस से उत्पन्न हुए हों। वा यों कहो कि मूलाऽविद्या के कार्य्य व्यवहारिक कहलाते हैं और उन की निवृत्ति केवल ब्रह्मज्ञान से होती है, और तूलाऽविद्या के कार्य्य रज्जू सर्पादिकों की निवृत्ति अधिष्ठान के ज्ञान से होजाती है यह प्रातिभासिक और व्यवहारिक पदार्थों में परस्पर भेद है।

यहां यह आशङ्का उत्पन्न होती है कि जो दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब है वह प्रतिभासिक अर्थात् मिथ्या है फिर उस की निवृत्ति अधिष्ठान ज्ञान से क्यों नहीं होती ?

और उक्त स्थल में "अधिष्ठान ज्ञान बाध्यत्वं मिथ्यात्वं" कि जो अपने अधिष्ठान के ज्ञान से मिट जाय वह मिथ्या होता है, यह लक्षण भी प्रतिबिम्बादिकों में नहीं घटता इस लिये लक्षण में अव्याप्तिरूप दोष आगया, जो अपने यावत लक्ष्यों में न घटे ऐसे लक्षण को अव्याप्ति दोष दूषित कहते हैं।

इस का उत्तर वेदान्त फिलासफी में यह है कि दर्पण रूपी अधिष्ठान के ज्ञाता पुरुष को उस प्रतिबिम्ब के मिथ्यात्व का पूर्ण निश्चय होजाता है कि यह आदर्शरूपी उपाधि से प्रतीत हुआ है

प्रतीत होता है एवं जब तक प्रारब्ध कर्म्म बने रहेंगे तब तक उक्त दण्ड के टेढ़ेपन के समान संसार की सत्ता बनी रहेगी।

अन्य युक्ति यह है कि अधिष्ठान के ज्ञान से सब स्थलों में कल्पित की निवृत्ति एक जैसी नहीं होती जैसे लाल रंग के पास रखा हुआ शुद्ध स्फटक लाल प्रतीत होता है वहां अधिष्ठान के तत्व ज्ञान के होने पर भी स्फटक लाल का लाल ही प्रतीत होता रहता है एवं जब तक प्रारब्ध कर्म्म रहते हैं तब तक संसार की प्रतीति बनी रहती है॥

और जो पूर्व यह प्रश्न किया गया था फिर अधिष्ठान ज्ञान होने पर कल्पित की निवृत्ति का नियम टूट जायगा। वह इस प्रकार नहीं टूटता कि जिसको स्फटक के शुद्ध स्वरूप का ज्ञान होजाता है उसको स्फटक में लाल रंग होने का मिथ्यत्व का निश्चित तौर पर ज्ञान होजाता है॥

अधिष्ठान ज्ञान से कल्पित पदार्थ का बाध होजाता है यह नियम कहीं भी नहीं टूटता परन्तु इसकी विवेचना यह है कि (बाध) अर्थात् कल्पित पदार्थ का नाश वा मिट जाना दो प्रकार का होता है एक तो उसके मिथ्यात्व होने का निश्चयरूप बाध कहलाता है। दूसरा अधिष्ठान मात्र शेष रह जाना बाध कहलाता है जहां सीपी में चांदी का भ्रम होता है वहां अधिष्ठान मात्र शेष रूप बाध होता है और जहां दर्पण में मुख की भ्रान्ति हुई है वहां उसके मिथ्यात्व निश्चय का नाम ही बाध है कि "दर्पणे मुखं नास्ति" कि शीशे में मुख नहीं किन्तु अन्यथा प्रतीत होरहा है॥

इस भेद का कारण यह है कि जहां कोई न कोई प्रति बन्धक बना हुआ है वहां मिथ्यत्व निश्चय रूपी बाध ही होता है जैसे दर्पणगत प्रतिबिम्ब में वा शुद्ध स्फटक गत लाल रंग में। पर जहां कोई प्रति बन्धक शेष नहीं रहता वहां वहां अधिष्ठान मात्र शेष रूपी बाध होता है जैसे रज्जु सर्पादिक स्थलों में देखा जाता है" ॥

भाव यह है कि मूलाऽविद्या के कार्य्यों का बाध मिथ्यात्व निश्चय रूप ही होता है अधिष्ठान मात्र शेष नहीं और तूलऽविद्या के कार्य्यों का बाध अधिष्ठान मात्र शेष रूप होता है यह विवेक है ॥

यह विषय अति कठिन है इस की विशेष विवेचना पञ्च-पादिका, विवरण, विवरणप्रमेयसंग्रह इत्यादि वेदान्त के आकार ग्रन्थों में स्पष्ट है जो विस्तार और कठिनता के भय के कारण यहां नहीं लिखी जाती यहां मुख्य प्रसंग यह है कि (श्रुतब्रह्म की) अर्थात् ब्रह्म ज्ञानी की दृष्टि में यह संसार नहीं रहता इसलिये अद्वैत विद्या चार्य्य भाष्यकार यह लिखते हैं कि "नावगतब्रह्मात्म भावस्ययथा पूर्वं संसारित्वं शक्यंदर्शयितुं" अर्थ कि जिसने ब्रह्म के तत्व को जान लिया है उस के लिये यह संसार पहले जैसा नहीं रहता अर्थात् अज्ञानियों के दर्शन में जैसे यह संसार आता है वैसा ब्रह्म ज्ञानी की दृष्टी में नहीं ब्रह्म ज्ञानी की दृष्टि में दग्ध ज्जु के समान आकृति मात्र शेष रहता है और उस में भी मिथ्या अभिमान के मिट जाने से उसकी दग्धरज्जूवत् प्रातिभासिक सत्ता से इसे

कोई दुःख नहीं होता। इस विषय में भाष्यकार ने दृष्टान्त यह दिया है कि जैसे कोई कुण्डलों वाला पुरुष जब उन में मिथ्या अभिमान को छोड़ देता है फिर उनसे उसको कोई दुःख नहीं होता चाहे वह तत्काल ही नष्ट होजायं पर जब तक मिथ्याभिमान बना रहता है तब तक वे परम दुःख के निदान रहते हैं।

अध्यास की यही महिमा है कि जबतक वह रहता है तबतक पुरुष उसमें बंधा रहता है जैसे बालक अपने आप मट्टी के खिलौने बनाकर उनमें पारमार्थिक बुद्धि कर बैठता है पर जब उसकी उनमें मिथ्यात्व बुद्धि होजाती है फिर उनके टूटने फूटने से उसे कोई कष्ट नहीं होता॥

तात्पर्य्य यह है कि ब्रह्मरूप अधिष्ठान के ज्ञान होने पर संसार सत्य रूप नहीं रहता किन्तु ब्रह्मरूप ही भासता है और जो यह कहा गया था कि यदि यह कल्पित है तो रज्जु सर्प के समान मिट क्यों नहीं जाता इसका एक यह भी उत्तर है कि जैसे मट्टी के ज्ञान होने पर मृद् भाण्ड प्रतीत होता हुआ भी मट्टी से भिन्न नहीं होता सुवर्ण के भूषण गुनाई चौड़ाई और लम्बाई रखते हुए सुवर्ण को त्याग कर कुछ और नहीं होजाते एवं यह संसार ब्रह्म का विवर्त्त होते हुए ब्रह्म से भिन्न नहीं यह वेदान्त का परम सिद्धान्त है जैसाकि गौड़पादाचार्य्य ने कहा है कि "मूल्लोह विस्फुलिङ्गाद्यैःसृष्टिर्याचोदितान्यथा।उपायास्तेअवतारायनास्तिभेदः कथंचन॥ १५॥

अर्थ—मट्टि लोहे के दृष्टान्तों से जो उपनिषदों में ब्रह्म का कार्य्य रूप सृष्टि बोधन की गई है वह एक प्रकार से ब्रह्म बोधन करने के अभिप्रायसे है भेद के अभिप्राय से नहीं ॥

भाव यह है कि उक्त दृष्टान्तो से कोई यह भाव ना निकालले कि वेदान्त मतमें भी नाना प्रकार के तत्व हैं जो लोहे मट्टि पत्थर के दृष्टान्त दिये गए हैं इस अभिप्राय से आचार्य्य ने यह कहा है कि यह एक प्रकार से ब्रह्म बोधन का उपाय है वास्तव में भेद नहीं वास्तव में वेदान्त फिलासफी में एक मात्र ब्रह्म ही तत्व है अन्य रज्जू सर्प के समान कल्पित भाव हैं ॥

यहां यह आशङ्का होगी कि जब वेदान्त सिद्धान्त में एक ही तत्व है तो फिर शास्त्रीय प्रक्रिया से छः अनादि क्यों माने गए हैं ॥ छः अनादि यह हैं १ जीव, २ ईश्वर, ३ शुद्ध ब्रह्म ४ जीव, और ईश्वर का परस्पर भेद, ५ अविद्या, ६ अविद्या और चेतन का परस्पर सम्बन्ध इन छः पदार्थों को वेदान्त के सब आचार्य्यों ने अनादि माना है ॥

सुरेश्वराचार्य्य का कथन है कि:—

जीवेशौच्च विशुद्धाचिद् भेदस्तुतयोर्द्वयो
रविद्यातच्चितोः योगः षडस्माकमनादयः ॥

और यही छः स्वामी शङ्कराचार्य्य जी ने अ० २ । पा० १ ब्र० सू० प्रयोजन वत्त्वाधिकरण में विविध तर्कों से छः यों अनादि मण्डन किये हैं वह इस प्रकार कि यदि जीव अनादि नहीं तो पुण्य पाप की व्यवस्था नहीं बनती अर्थात् कोई राजा और कोई

रङ्क बिना कारण के कैसे बनगए इसलिये जीव अनादि है, ईश्वर इसलिये कि "तदैक्षतबहुस्यां प्रजायेय" छां०६।२ कि मैं बहुत होकर प्रगट होऊं ऐसा सत्य सङ्कल्प अनादि सिद्ध ईश्वर है, ३ शुद्ध ब्रह्म जो नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव है, जीव और ईश्वर का परस्पर भेद, इसलिये अनादि है कि यह अनादि काल से चला आता अविद्या के अनादि मानें बिना निर्वाह नहीं क्योंकि अविद्या ही अपनी आवर्ण और विक्षेप शक्ति से इस विश्व को बनाती है अविद्या और चेतन का सम्बन्ध भी अनादि काल से चला आता है इसप्रकार छयों अनादियों का भाष्यकार ने आप श्रीमुख से मण्डन कि है। और वेदान्त शास्त्र का सिद्धान्त यह है कि "एकमेवा ऽद्वितीयं" एक ही अद्वितीय सजातीय विजातीय स्वगत भेद शून्य ब्रह्म तत्व है अन्य कोई वस्तु नहीं एसा मोटा विरोध वेदान्त शास्त्र में क्यों हैं ? इसका उत्तर यह है कि "नित्यमशरीरत्वम कर्म्म निमितत्वात्" कि जीवात्मा सदैव अशरीरी अर्थात् शरीर रहित है क्योंकि जीवका शरीर कर्म्मों से नहीं बना किन्तु स्वप्न शरीर के समान अज्ञान से बना हुआ है इस भाष्य में स्वामी शङ्कराचार्य्यजी ने अनादि प्रवाह को अन्ध परंपरा सिद्ध किया है इससे स्पष्ट सिद्ध है कि वेदान्त सिद्धान्त में केवल अज्ञान का कार्य्य सृष्टि है और अज्ञान कल्पित पदार्थ में कोई क्रम वा प्रक्रिया नहीं होती जैसाकि गौडपादाचार्य्य ने भी कहा है कि:—

स्वप्नमाया यथादृष्टे गन्धर्वनगरं यथा ।

तथाविश्वामिदंदृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः ॥३१॥

अर्थ—कि जैसे स्वप्न के पदार्थ, जंगल में भ्रान्तिजन्य गन्धर्वों का नगर, इसी प्रकार यह सब मिथ्या होते हैं इसी प्रकार यह विश्व मिथ्या भासरहा है। एक प्रसिद्ध वेदान्ती का इस विषय में यह कथन है ॥

दोहा

जैसे स्वप्नहोत बिनक्रमते त्यों मिथ्याजग भासत भ्रमते।
जो यांकों क्रमजानियों लोरे सोमारुस्थलवसन निचोरे।

रज्जु सर्प के समान यह संसार बिना ही क्रमसे उत्पन्न होता है क्योंकि भ्रमरूप है और भ्रम में क्रम नहीं होता स्वप्नादिक प्रातिभासिक पदार्थों के भ्रम और व्यवहारिक पदार्थों के भ्रमरूप होने में इतना ही भेद है कि स्वप्न पदार्थ तूलाऽविद्या के कार्य्य हैं और व्यावहारिक मूल विद्या के कार्य्य है पर भ्रमरूप होनेमें दोनों के अंशमात्र भी सन्देह नहीं ॥

तात्पर्य्य यह है कि छः अनादियों के साथ अद्वैतवाद का तो विरोध होता जो छः अनादि वास्तव में होते यह तो कर्म्मकाण्ड के व्यावहारिक शास्त्र की दोषनिवृत्ति के लिये भाष्यकार ने माना है वास्तव में एक अद्वैतमात्र ही अद्वैत सिद्धान्त में तत्व है जैसाकि "सरस्वती रहस्योपनिषद" में लिखा है कि "अस्तिभाति प्रियंरूपं नामचेत्यंशपञ्चकं आद्यंत्रयंब्रह्मरूपं जगत्

रूपं ततो द्वयम्' कि अस्ति भाति प्रियरूपं यह तीनों ब्रह्मरूप हैं नाम और रूप यह दोनों जगत् रूप हैं सो मिथ्या हैं इस प्रकार एक ही तत्व है इसलिये षट अनादियों से कोई विरोध नहीं विरोध इतना ही है कि यदि इस अनादियों की प्रक्रिया को ठीक ठीक मानलिया जाय तो एक सत्तावाद ही क्या ? किन्तु छः प्रकार की सत्ता माननी पड़ी ? वेदान्त सिद्धान्त में व्यवहार में तीन सत्तावाद है १ व्यावहारिकी, २ प्रतिभासिकी, ३ परमार्थिकी पर यहां भी प्रातिभासिक और व्यवहारिक को मिटाकर एक परमार्थ सत्तावाद ही मुख्य सिद्धान्त है ॥

अन्य प्रकार षट अनादियों के साथ अद्वैतवाद के विरोध को मिटाने का यह भी है कि "तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय" इस वाक्य में जब ब्रह्म विषयक बहु भवनकी इच्छा हुई कि मैं एक से अनेक होजाऊं उस समय क्या ? जीव ईश्वरादि उक्त पांचों पदार्थ ब्रह्म से भिन्न थे यदि भिन्न थे तो फिर उसने बहुत होने की इच्छा ही क्यों की इससे स्पष्ट सिद्ध है कि इन मायिक पदार्थों से प्रथम एक ब्रह्म ही ब्रह्म था अन्य कोइ भी वस्तु न थी क्योंकि शुद्ध सत्व प्रधान माया में चेतन के प्रतिबिम्ब का नाम ईश्वर है एवं अविद्या में चेतन के प्रतिबिम्ब का नाम जीव है इस प्रकार उक्त दोनों माया रूप उपाधि द्वारा उत्पन्न होनेके कारण दोनों अनादि न रहे किन्तु मायिक होगए इसी प्रकार इन दोनों का परस्पर भेद भी इन्हीं के होने से हुआ इसलिये वह भी अनादि न रहा शेष ४ चौथा अनादि

अविद्या रही वह भी शुद्ध ब्रह्म में न थी केवल जीवेश्वर में है इस लिये वह भी अनादि न रही। पाँचवा अविद्या और चेतन का सम्बन्ध भी तभी हुआ जब अविद्या और चेतन में भेद हुआ इसलिये वह भी अनादि न रहा इस प्रकार ब्रह्म से भिन्न पांचों अनादि जो मानेगए हैं वे सब उड़ जाते हैं केवल एक मात्र ब्रह्म ही अनादि अनन्त रहता है अन्य कोई वस्तु नहीं यह अद्वैतवादियों का मुख्य सिद्धान्त है॥

वेदान्त सिद्धान्त के मर्म्म को न जानने वाले कई एक लोग यह कहते हैं कि जीवेश्वरादि पांचों पदार्थ तो अनादि सान्त हैं इन से ब्रह्म के अद्वयतत्वकी क्या हानि। उनसे यह पूछना चाहिये कि तुम्हारे मतमें अनादि काल से ब्रह्म त्रिविधभेद शून्य है? अर्थात अनादि कालसे लेकर ब्रह्म सजातीय विजातीय और स्वगत भेद से शून्य है वा जब से इन पांचों पदार्थों का सान्त होने के कारण अन्त हो जायगा तब से ब्रह्म उक्त लक्षण वाला बनेगा? इस प्रश्न का उनके मुखसे स्वाभाविक यही उत्तर निकलेगा कि ब्रह्म सदा से सजातीय विजातीय ही नहीं किन्तु त्रिविध भेद शून्य है तो फिर यह सिद्ध हुआ कि यह सब पदार्थ माया कृत होने से मायिक हैं। अन्य प्रबल युक्ति यह है कि जब वेदान्त सिद्धान्त में भेद पदार्थ ही तर्क के आगे नहीं ठहर सकता तो फिर यह पांच अनादि भिन्न कैसे? भेद के खण्डन में चित्सुखाचार्य्य यह लिखते हैं कि:—

सापेक्षत्वात् सावधेश्चतत्त्वेऽद्वैतप्रसङ्गतः।
एकाऽभावात् असन्देहात् न रूपं वस्तुनोभिदा।

चित्सु० १ परि० का० १

कि भेद पदार्थ का स्वरूप है ? वा धर्म्म है ? यदि पदार्थ का स्वरूप माने तो यह दोष आते हैं, १ स्वरूप दूसरे पदार्थ की अपने बोध में आवश्यकता नहीं रखता, और भेद किस पदार्थ से इस का भेद है, इस प्रकार दूसरे की अपेक्षा रखता है। २ दूसरे यदि भेद पदार्थ का स्वरूप ही हो तो अपने प्रतियोगी के साथ ही भेद स्वरूप बनेगा अर्थात् जो भेद का निरूपक पदार्थ है, वा यों कहो कि जो उस पदार्थ को भिन्न करने वाला पदार्थ है वह भी पदार्थ के स्वरूप के भीतर ही आजायगा,जब के सारे प्रपञ्च का भेद ब्रह्म में बोधन करेंगे।

भाव यह है कि इस सम्पूर्ण प्रपञ्च के भेद को जब ब्रह्म का स्वरूप सिद्ध करेंगे तो प्रपञ्च के साथ ही भेद ब्रह्मरूप पदार्थ का स्वरूप बनेगा इस प्रकार अद्वैतवाद आजायगा। ३. जब भेद के अर्थ दो टुकड़े करने के हैं तो उस एक पदार्थ को भी खण्ड खण्ड करके स्वयं भी नाश होजायगा। ४. यदि पदार्थ के स्वरूप को ही भेद कहें तो किसी को भी किसी पदार्थ के स्वरूप में सन्देह नहीं होना चाहिये अर्थात् सब पदार्थ स्वरूप से ही भिन्न प्रतीत हो जायेंगे अन्यकारणों के अन्वेषणों की आवश्यकता नहीं इसी प्रकार भेद को धर्म्म मानने में भी अनवस्था दोष, पृथक्त्वरूप गुण मानने में गुण में गुण आजाने का दोष इत्यादि अनेक तर्कों से भेद का खण्डन अद्वैतत्व को सिद्ध करने के लिये वेदान्तियों ने किया है, यदि छः अनादियों का भी परस्पर भेद मान लिया जाय तो फिर अद्वैतवादियों को भेद क्यों कटु लगता है ?

भाव यह है कि एक तत्व मानने वालों के सिद्धान्त में छः अनादियों का मानना सर्वथा युक्ति शून्य और सिद्धान्त का विरोधी है।

हमारे विचार में शङ्कर सिद्धान्त में यह नहीं कि एक अद्वैत ब्रह्म मान कर उस के सजातीय और बना दिये जायें वास्तव में बात यह है कि जहां ब्रह्म सूत्रों के मत को स्वामी शङ्कराचार्य्य जी ने मण्डन किया है वहां यह दोष आया है कि निज मत छोड़ कर उस को मण्डन करना पड़ा जैसे कि:—

न कर्म्म अविभागात इतिचेन्न अनादित्वात्।

ब० सू० अ० २। १। ३५

अर्थ कि जब "सदेव सोम्येदमग्र आसीत् एक मेवाद्वितीयम्" छा०। इस उपनिषद् वाक्य के अनुसार एक ही ब्रह्म था तो फिर जीव के पहले पहल कर्म्म कहां से आए जिस से कोई ऊंच और कोई नीच बन गया इस का उत्तर महर्षि व्यास जी ने उक्त सूत्र में यह दिया कि यदि यह कहा जाय कि किसी काल में कर्म्म न थे तो यह ठीक नहीं क्योंकि कर्म्म अनादि काल से चले आते हैं।

सार यह है कि सूत्रकार के मत में ब्रह्म से भिन्न, २ जीव। दूसरा जीवों के कर्म्म और इन पदार्थों के परस्पर भेद इत्यादि अनेक पदार्थ अनादि हैं पर इस सूत्र के सूत्र जाल को स्वामी शंकराचार्य जी ने उस स्थान में तोड़ दिया जहां चतुः सूत्री में कर्म्मों की अनादिता खण्डन करके यह कहा है कि "अन्ध परं परेषाऽना-

दित्व कल्पना" कि अनादियों की कल्पना करना अन्ध परंपरा है अर्थात् औरों की लकीर के फकीर होना है वास्तव में एक ब्रह्म ही अनादि सिद्ध है यही सिद्धान्त है ॥

भाव यह है कि शंकराचार्य्यजी को यदि अपने मत को वेद और उपनिषद् तथा वेदान्त सूत्र इनके साथ मिलाने की कठिनाई न आन पड़ती तो यह शंकर अद्वैत पूर्ण था जिसमें किसी अंश में भी न्यूनता न थी।

यही बात प्रोफैसर मैक्समूलर और थीबो साहब ने शारीरिक भाष्य की भूमिका (Preface) में और श्रीलैक्चरस् औन वेदान्त में मैक्समूलर ने कही है कि जिस अद्वैत सिद्धान्त को स्वामी शङ्कराचार्य्य जी अपने मस्तिष्क से निकालते हैं उसकी पूरी पुष्टी वेदान्त सूत्रों से नहीं होती यदि स्वामी शङ्कराचर्य्यजी इस अद्वैतवाद की नींव को अपने ही तर्कके चटान पर रखते तो बहुत ही अच्छा था ॥

यह हम अध्यास के आविष्कार कर्त्ता होने में शङ्कराचार्य्य का प्राबल्य दिखला आए हैं कि जो गौड़पादाचार्य्य अद्वैत विद्या के पहले आचार्य्य गौडपादाचार्य्य को न सूझी थी उसको भगवान शङ्कर ने अपने बुद्धि बल से निकाल लिया ॥

इस में कुछ सन्देह नहीं कि कई एक बातें गौड़ पादाचार्य्य ने भी उपनिषद् और सूत्रों के रास्ते को छोड़ कर नई निकाली हैं जैसा कि:—

न निरोधो नचोत्पत्तिर्न बद्धोनच साधकः
नमुमुक्षुर्नच वैमुक्तइत्येषा परमार्थता॥गौड़पाद कारिका ३२

अर्थ—न कोई बन्ध है न उत्पत्ति न प्रलय यह सब मृग-तृष्णा के जल और गन्धर्व नगर के समान भ्रान्तीमान ही हैं वास्तव में नहीं इत्यादि बहुत बातें उक्त आचार्य्य ने अपने बुद्धि बल से निकाली हैं जो पहले न थीं पर इन सब का कोई श्रोत एक न था, जिस से यह अद्वैत जान्हवी अनवरत प्रवाह से बहने लगे वह श्रोत एक मात्र अध्यास ही है जिस का सार्थक प्रयोग शङ्कर फिलासफी से अन्यत्र कहीं भी नहीं॥

यहां यह विचार करना प्रकरण से विरुद्ध नहीं कि शंकर फिलासफी अर्थात् अद्वैत वाद की फिलासफी में निराशता का वाद' (Pessimism) और अनुचित वैराग्य कहां से आघुसे।

हमारे विचार में पैसमिज़म शङ्कर मत में बुद्धों से आया है और अनुचित वैराग्य भी बौद्ध मत से लिया गया, वह इस प्रकार कि जब बौद्ध धर्म्म ने अपना प्रभाव इस संसार को दुःख मय निरूपण कर के उत्पन्न कर लिया तो वेदान्त भी इसको दुःखमय अर्थात् दुःख रूप निरूपण करने लगा जिससे निराशता ही प्रति दिन प्रावृट काल के भयङ्कर भागीरथी प्रवाह के समान बढ़ती गई इस भयङ्कर भागीरथी का प्रथम पुत्र भीषण भीष्म पितामह रूप जिसका नाम उस समय में वैराग्य था ब्रह्म मीमांसा रूप ब्रह्म भोज के समय मुख्याधिकारी बनके सब से प्रथम आ विराजा॥

भाव यह है कि "अथातो ब्रह्म जिज्ञासा" यह ब्रह्ममीमांसा अर्थात व्यासकृत ब्रह्म सूत्र का प्रथम सूत्र है इसके यह अर्थ हैं कि अब ब्रह्म विचार किया जाता है इस ब्रह्म विचार के लिये स्वामी शंकराचार्य्यजी ने चार साधन माने हैं उन सब में प्रथम वैराग्य है यह वैराग्य ही शंकराचार्य्यजी की बुद्धि में सब से बड़ा योद्धा जचा इसलिये उक्त सूत्र के भाष्य में यह लिखा कि १। वैराग्य २। विवेक ३। षट् सम्पत्ति ४। मुमुक्षुता इन चार साधनों के अनन्तर ब्रह्म की जिज्ञासा होती है अन्यथा नहीं इसलिये उक्त सूत्र में अथ शब्द पढ़ा गया है अस्तु हमारा यहां सूत्रार्थ विचार करने का अभिप्राय नहीं विचार इस बात का करना है कि इस अकिञ्चन वैराग्य का ब्रह्म मीमांसा में क्या काम। क्या जो इस वैराग्य को धारण नहीं करते वे ब्रह्म विचार नहीं कर सकते या यों कहो कि भूखे नंगे सो बिना ब्रह्म विषयक विचार ही नहीं हो सकता ? यहां यदि यह कहा जाय कि—

अर्थ कामेष्वशक्तानां धर्म्म ज्ञानं विधीयते।
धर्म्म जिज्ञास्यमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः मनु

अर्थ—जो धन और धन की कामनाओं में आसक्त है उन्हीं के लिये धर्म्म का ज्ञान विधान किया है अन्यों के लिये नहीं इससे वैराग्य की मुख्यता पाई जाती है तो उत्तर यह है कि असक्त के अर्थ यह हैं कि जो धनादि पदार्थों में लम्पट नहीं उन्हीं के लिये

यह धर्म्म ज्ञान है दूसरों के लिये नहीं तो तात्पर्य्य यह निकला कि धन लोलुपों का यहां निषेध है अनुचित वैराग्य अर्थात् अकिञ्चन होने का विधान नहीं।

सार यह है कि इस घृणित वैराग्य को उच्च स्थान देकर इस सारे संसार को बौद्ध धर्म्म के भिक्षुयों समान कर दिया जिसका स्वरूप कवि लोग यों वर्णन करते हैं कि—

सवैया

मन्दिर माल विलायत है,
गज ऊंठ दमामा दिना इक दो हैं।
तात हुं मात त्रिया सुत बान्धव,
देखित पामर होत बिछो हैं॥
भूंठ प्रपञ्च सोराच रहो सठ,
काठ की पूतरी जिउं कपिमो है।
मेरी ही मेरी करे नित्य सुन्दर,
आंख खुले कहुं? कौन को को है॥

केवल इतना ही नहीं इस निन्दित महा निन्दक ने स्त्रियों और पुरुषों की इस प्रकार निन्दा की है जैसे कि—

सवैया

रमणी रमणी नहीं रञ्चक है,
गुण औरन के रमणी दर्शाए।

मुक्ता हलहारसु हेमतटं पुन,
कुंकम चन्दन लेप लगाए ॥
शुभ फूलन की गल माल धरे,
अरु पाट दुकूल शरीर सुहाए ।
गतिमन्द हरे मन नार नहीं,
नरकाग्नि चराड शिखा चमकाए ॥

पूर्वोक्त शृंगार रस के रंग में इस अनुचित वैराग्य ने ऐसा भंग डाला है मानो विवाह में मंगल गीतों के स्थान में गरुडपुराण की कथा खोलदी जो स्त्री मात्र को नरक की प्रचण्ड अग्नि रूप से वर्णन किया जो भीष्म और भीम की जननी थीं हम तो ऐसे स्थान में यों कहेंगे कि—

दोहा

नारी निन्दा मत करो, जु नारी नर की खान ।
नारी से नर उपजते, भीष्म भीम समान ॥

अस्तु मुख्य प्रसंग यह है कि इस अनुचित वैराग्य ने केवल स्त्रियों ही की निन्दा नहीं किन्तु सब प्रकार के धन ऐश्वर्य्य और पुरुषार्थ की निन्दा कर के इस संसार को भित्तुमय कर दिया ।

और केवल भाषा के कवियों ने ही इस मिथ्या वैराग्य के प्रभुत्व को वर्णन नहीं किया किन्तु संस्कृत के अनेक ग्रन्थों में इसकी प्रभुता वर्णन कीगई है जैसा वसिष्ठ ने

निर्वाण प्रकरण है इसमें वेदान्त मत का मुख्य योद्धा महामोह के योद्धा के समान इसको माना गया है। भर्तृहरि इसको यों वर्णन करते हैं कि—

भोगेरोग भयं सुखेक्षय भयं वित्तेचराजोद्भयम्।
मानेहानभयं गुणेखलभयं काये कृतान्ताद् भयं सर्व
वस्तुभयान्वितं भुविनृणां वैराग्यमेवाभयम्॥

कि भोग में रोग का भय है और सुखों में उनके नाश हो जाने का भय है, धन में राजा और चोर का भय रहता है कि कोई लूट न ले, मान में हानि का भय और विद्यादि गुणों में निन्दकों का भय, सुन्दर और पुष्ट शरीर में काल का भय बहुत क्या यह संपूर्ण संसार भय का भण्डार है। केवल वैराग्य अर्थात् अकिञ्चनता के भाव को धारण कर लेना ही निर्भय पद है ऐसे विचारों का नाम पैसमिज़म (Pessimism) है सार यह है कि यह भाव वेदान्तियों ने बौद्धों के निर्वाणपद से लिया है। और वेद तथा उपनिषदादि शास्त्रों में इसका गन्ध मात्र भी पता नहीं मिलता। और दोष यह भी आगया कि इस मिथ्या वैराग्य के भावों को दूर करने वालों की गणना इन्होंने महा मोह की सेना में करदी जैसा कि प्रबोध चन्द्रोदय के कर्त्ता ने इस भाव को महामोह के मुख्य योद्धा चार वाक की ओर से यों वर्णन किया है—

सवैया

दुःख संग मिले जग के सुख जो,
वह दूर तजो इह भान्ति बखाने।

ते निर्बुद्ध महा पशु हैं,
हम जीवन के पर तारक जाने ॥
सित तण्डल जे तुष संग मिले,
तिंह नाह तजें जन जे सुर ज्ञाने ।
इह भान्ति लुकायत वाक्य सुने,
तब मोह बली मन में विकसाने ॥

अर्थ—जो लोग यह कहते हैं कि जगत् के सुख दुःखों के साथ मिले हुए हैं इसलिये उन सुखों को छोड़ देना चाहिये, ऐसे लोग निर्बुद्धि हैं। क्या वे तुषों के साथ मिले हुए सुन्दर चावलों को इस हेतु से छोड़ देंगे कि उनके ऊपर तुषों के छिलके का पड़दा है। इसी प्रकार क्या इस संसार को दुःखों के भय से छोड़ देना चाहिये कदापि नहीं किन्तु उन दुःखों को वीरता से हटाकर इस संसार को स्वर्ग धाम बना लेना चाहिये। ऐसे पुरुषों के लिये वेदान्त फिलासफी आदि दर्शन अति दृढ़ता का काम देते हैं क्योंकि इन में दुःखों को तात्विक नहीं समझा गया जैसा कि गीता में कृष्णजी ने इस श्लोक में वर्णन किया है कि—

"नाऽसतोविद्यते भावो नाऽभावो विद्यतेऽसतः ।
उभयोरपि दृष्टोन्तस्त्वनयोस्तत्वदर्शिभिः (गीता)

अर्थ—कि जिन पदार्थों की संसार में कुछ सत्ता ही नहीं अर्थात रज्जु सर्पादिकों के समान मिथ्या है उनका भाव कदापि

नहीं हो सकता और आत्मा जो परमार्थ सत्ता वाला है वह कभी शरीरादिकों के छिन्न भिन्न होने से नाश को प्राप्त नहीं होता इस लिये हे अर्जुन तू मरने से मत डर यह वैदिक वेदान्त का भाव है। प्रसंग यह है कि ऐसे भावों से भरा हुआ यदि शङ्कर मत होता तो संसार को दुःखमय समझने वाले पैसामिज़म का इसमें गन्ध मात्र भी न होता ॥

हमारे विचार में तो वेदान्त उन लोगों का भूषण है जो इस संसार को मिथ्या समझ कर भी जाग्रत से बढ़कर काम करते हैं और अपने लक्ष्य की पूर्त्ति में सदा कटिबद्ध रहते हैं जैसे कि—

कवित्त

भीष्म भगाया जिन सार्थी का स्वांग धर आपद् धर्म्म बीच नीति को विचारके। महाबली भीम भीर हरी आप द्रौपदी की कीचक म्लेच्छ मारे सारे ललकारके ॥ काम आन पड़े तब बीर नहीं टलें चाल दिग्गज की चलें मरें दुष्टन को मारके। जायके विराट गृह दास रूप धार बैठे पाण्डव प्रगट हुए समय को विचारके ॥

जिस भारतीय सन्तान में यह वीरता के भाव थे उस को पैसमिज़म के भयङ्कर प्रवाह ने बहा कर कायरता के वारिधि की मझधार में डुबा दिया।

सार यह है कि यदि भगवच्छंकराचार्य्य के शिष्य इस बौद्ध पैसमिज़्म के प्रवाह से पारङ्गत होजाते तो भिक्षुमण्डली को मलीआमेट करके इस भारतवर्ष के भूषण बन जाते और ऐसे २ विचार प्रगट करते कि:—

सवैया

है धरती धन से परिपूरण भोगत हैं इस को बलधारी। जानु भुजा कटके हरके समसाहस युक्त सदा बलकारी॥ नाहिं डरें रिपु से कबहीं वह यद्यपि हो भुज में बलचारी। इषुधार तड़ातड़ जा वर्षें मनो-प्रावृट काल चढ़ी घटकारी॥ १॥

आप लघु रिपु हो अति दीरघ तद्यपि शङ्क हृदय नहिं आने। जिउं उरगाशन शङ्क न मानत देख भुजङ्ग सदा हर्षाने॥ जाय ग्रसे गल से हमहीं जिमि अन्त समे यम आ लपटाने। कायर देख जिन्हें रण में शशशृंङ्गन के सम जाय लुकाने॥२॥

यह भाव राजा और प्रजा दोनों के लिये सुखदाई हैं जिस राजा की प्रजा १। तपोबल २। शूरवीरता ३। दृढ़ता ४। सच्चाई ५। राज्यशासकों में भक्ति ६। मिथ्या वैराग्य का त्याग। उक्त षड्गुण सम्पन्न होती है वह राजा सदैव ऐश्वर्य्य शाली होता है। मुख्य प्रसंग यह है कि उक्त भावों को उस मिथ्या वैराग्य ने मिटा

दिया जो ब्रह्म विचार का मुख्य साधन आन बना, वास्तव में ब्रह्म विचार का मुख्य साधन कर्म्म था इसी अभिप्राय से महर्षि व्यास जी ने कर्ममीमांसा पूर्व मीमांसा के अनन्तर इस ब्रह्ममीमांसा नामक ब्रह्मसूत्रों को बनाया है।

१ब्रह्मसूत्र। २दशोपनिषद्। ३गीता। यह तीनों वेदान्त के प्रस्थान कहलाते हैं। अर्थात् वेदान्त फिलासफी के यह तीनों मुख्य ग्रन्थ हैं इन तीनों में कहीं भी उक्त मिथ्या वैराग्य का नाम नहीं इस से स्पष्ट सिद्ध है कि यह प्रसाद बौद्धों से आया है या यों कहो कि इस को भी स्वामी शङ्कराचार्य्य जी ने अध्यास के समान स्वयं उत्पन्न कर के कर्म्म के खण्डन का एक साधन बना लिया अस्तु यहां विचारयोग्य बात यह है कि "अथातो ब्रह्म जिज्ञासा" इस सूत्र में अथ शब्द किस अभिप्राय से आया है हमारे विचार में अथ के अर्थ यहां प्रारम्भ करने के हैं अर्थात् अब ब्रह्म का विचार प्रारम्भ किया जाता है। ब्रह्म उन्हीं लक्षणों से युक्त है जिन का वर्णन हम पूर्व कर आए हैं, यहां यह दर्शाना युक्त है कि इस प्रथम सूत्र रूप विद्या प्रदीप में अध्यास तिमिर कैसे आघुसा? अथवा दीपक तले अन्धेरा यह लोकोक्ति यहां चरितार्थ आ हुई? अस्तु

एक उत्तर तो हम इस बात का ग्रन्थ के आरम्भ में ही दे आए हैं कि वेदान्त फिलासफी के नेता श्री स्वामी शङ्कराचार्य्य जी ने इस को अपनी बुद्धि बल से कल्पना किया, दूसरा उत्तर यह है कि १ अथातो ब्रह्म जिज्ञासा। २ जन्माद्यस्ययतः।

३ शास्त्रयोनित्वात् । ४ तत्तुसमन्वयात् । यह चारों वेदान्तदर्शन के प्रारम्भ के सूत्र हैं । इन का दूसरा नाम चतुःसूत्री भी है, चतुःसूत्री के अर्थ चारों सूत्रों के समूह के हैं ।

अद्वैतवाद में इन का भाष्य कदापि नहीं बन सकता जब तक इसकी कोई विचित्र भूमिका न हो जो यह सिद्ध करे कि ब्रह्म और ब्रह्म का (जिज्ञासु) जानने वाला यह दोनों एक ही हैं इस बात की सिद्धि बिना अध्यारोप के कदापि नहीं होती, और (अध्यारोप) सत्य वस्तुओं में असत्य वस्तु के आरोप करने को कहते हैं इस लिये अध्यास मानना पड़ा ।

वेदान्त सिद्धान्त में अध्यारोपकी प्रक्रिया यह है कि प्रथम ईश्वर में यह सङ्कल्प हुआ कि मैं सृष्टि को बनाऊं इसलिये उसने अपने आत्मभूत मूल प्रकृति अर्थात् माया से इस संसार को बनाया यह कई एक स्थलों में पूर्व भी वर्णन कर आए हैं कि उस माया की दो शक्तियें हैं एक आवरण और दूसरी विक्षेप ।

विक्षेप शक्ति वाली मूल प्रकृति माया परिणाम को प्राप्त होकर आकाशादि क्रमसे नाना प्रकार के स्वरूपों को धारण कर के इस स्थूल रूप में आगई अर्थात् उस माया रूप मूलप्रकृति से १ आकाश, २ वायु, ३ अग्नि, ४ जल, ५ पृथिवी, यह पांचों सूक्ष्म भूत उत्पन्न हुए इनको पञ्चतनमात्र भी कह सकते हैं ॥

सांख्य शास्त्र की प्रक्रिया के अनुसार मानों (माया) प्रकृति की आवरण शक्ति महतत्व हुआ विक्षेप शक्ति अहंकार और पांचो सूक्ष्मभूत पञ्चतनमात्रा हुए ।

फिर इन सूक्ष्म भूतों से पाञ्चों स्थूलभूत जिस प्रकार हुए उस प्रकार का नाम पञ्चीकरण है अर्थात उन पांचो सूक्ष्म भूतों का विभाग करके उनसे स्थूलभूत बनाए गए:—

दोहा

दो विभाग कर एक के, पुनह एकके चार ।
स्वात्म तजकर मलदे, पञ्ची करण प्रकार ॥

पहले एक तत्वके दो विभाग करलो फिर उन दोनों में एक के चार चार करलो उन चारों को अपने से भिन्न चारों तत्वों में एक एक करके मिलादो अपना आधा भाग ज्योंका त्यों पूरा रखो इस प्रकार आधा भाग चारों अन्यों का और आधा अपना रह जाता है इसका नाम पञ्ची करण है अर्थात् ऐसी मिलावट से पाञ्चों भूत आपस में मिल कर स्थूल होगए ॥

दूसरी ओर इन्हीं सूक्ष्म भूतों से श्रोत्र त्वक् चक्षु जिह्वा घ्राण यह पाञ्च इन्द्रिय और वाग् पाणि पाद पायु उपस्थ यह पञ्चेन्द्रिय उत्पन्न हुए । फिर प्राण अपान व्यान उदान समान यह पाञ्चों प्राण उत्पन्न हुए मन और बुद्धि इन सत्तरह की मिलावट का नाम लिङ्ग शरीर है और यह प्रलय काल में अपने कारण भूत अविद्या में बना रहता है जैसे सुषुप्ति अवस्था में अविद्यालय लिङ्ग शरीर अवस्थान्तरों में प्रगट होजाता है इस प्रकार जब ईश्वर संङ्कल्प से सृष्टि होती है फिर आविराजमान होता है अर्थात् अनादि भावरूप है ॥

यह बात वेदान्तियों ने पुनर्जन्म में विषमतादि दोषों के मिटाने के लिये मानी हुई है अन्यथा लिङ्ग शरीर की उत्पत्तिके क्या अर्थ ? अस्तु प्रक्रिया यह है, कर्म्मेन्द्रियों के साथ पांचो प्राणो का प्राण मय कोश ॥ १ ॥ ज्ञानेन्द्रियों के साथ मन का मनोमय कोश ॥ २ ॥ ज्ञानेन्द्रियों के साथ बुद्धि का विज्ञानमय कोश उक्त तीनों कोशों का नाम ही एक प्रकार से लिङ्ग शरीर है। कोश के अर्थ आत्मतत्व को ढकने वाली वस्तु के हैं जैसे (असिकोश) अर्थात तलवारका म्यान एक प्रकार का चर्म्ममय पड़दा जो होता है उसका नाम कोश होता है। एवं आत्मा के अवरण पदार्थ का नाम यहां कोश है इसी आभिप्राय से गौडपादाचार्य्य ने यह कहा है कि—

रसादयो हियेकोशा व्याख्याता तैत्तिरीयके ।
तेषामात्मा परोजीवः खं यथा स प्रकाशितः ॥

माण्डूक्य कारिका ।१।

अर्थ—जो अन्नमयादि कोशो वाला आत्मा तैत्तिरीय उपनिषद् में वर्णन किया गया है । उसी पर ब्रह्म को हमने यहां आकाशादि दृष्टान्तों से वर्णन किया है । ठीक है वेदान्त के सिद्धान्त में उपाधि के भेद से ही जीव ब्रह्मसे भिन्न है वरन इस श्लोक के अनुकूल ब्रह्म ही है कि—

श्लोक

श्लोकार्द्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थ कोटिभिः ।
ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नाऽपरः ॥

जो क्रोड़ों ग्रन्थों ने कथन किया है मैं उसे श्लोक के आधे भाग से ही कह डालता हूं कि ब्रह्म ही एक तत्व है और जगत मिथ्या है जीव ब्रह्म ही है अन्य कोई वस्तु नहीं। अस्तु मुख्य प्रसङ्ग यह है कि अन्नमय और आनन्दमय यह दो कोश और हैं इनको मिलाय कर कोश पाञ्च हैं इनमें से कोश त्रयात्मक सूक्ष्म शरीर के अभिमानी जीव का नाम तैजस है अर्थात यह तेजोमय जो अन्तःकरण है उस उपाधि वाला होने से तैजस कहलाता है ॥ और यह जीव स्वप्न स्थान वाला है अर्थात् स्वप्नावस्था का अभिमानी है अन्नमय कोश वाला आत्मा विश्व कहलाता है यह जागरित अवस्था का अभिमानी है तीसरा आनन्द मय कोश वाला प्राज्ञ कहलाता है यह सुषुप्ति अवस्था का अभिमानी है एवं एक ही आत्मा के इन्होंने तीन भेद माने हैं सो उपाधि के कारण हैं इसी प्रकार कूटस्थ १। ब्रह्म २। ईश्वर ३। यह भी तीन भेद हैं जो माया वशिष्ट चेतन का अधिष्ठान उसका नाम कूटस्थ, सच्चिदानन्दस्वरूपनिरूपाधिकचेतन का नाम ब्रह्म, केवल माया उपाधि वाले चेतन का नाम ईश्वर, आगे ईश्वर भी जीव के तीन भेदों के समान तीन भेदों वाला है १। ईश्वर २। वैश्वानर केवल माया विशिष्ट का नाम ईश्वर, समष्टि सूक्ष्म शरीर और समष्टि स्थूल शरीर तथा माया इन तीनों के साथ मिले हुए हैं चेतन का नाम वैश्वानर और सूक्ष्म शरीर समष्टि और कारण रूप माया के साथ मिले हुए चेतन का नाम हिरण्यगर्भ है एवं उपाधि वश से वेदान्तियों के मत में चेतन के अनेक भेद हैं परन्तु मुख्य रीति से

चेतन के चार ही भेद हैं १ ब्रह्म २ ईश्वर ३ कूटस्थ ४ जीव यह इस प्रकार हैं कि जैसे एक ही महा काश के १ महा काश २ मेघा काश ३ मठाकाश ४ घटाकाश अनन्त निरवच्छिन्न अर्थात् जिसकी कोई सीमा नहीं ऐसे महाकाश वत् परि पूर्ण चेतन का नाम ब्रह्म मेघ रूप उपाधि के साथ घिरे हुए हैं आकाश के समान मायारूप उपाधि वाले चेतन का नाम ईश्वर, माया वाऽविद्या उपाधि वाले चेतन के अधिष्ठान चेतन का नाम कूटस्थ और केवल अविद्या उपाधि वाले चेतन का नाम जीव है।

इत्यादि नाना प्रकार के आरोप का नाम अध्यारोप है अर्थात् एक रस सच्चिदानन्द सद्वस्तु रूप ब्रह्म में जो अवस्तु रूप संसार का रस्सी में सांप के समान आरोप किया जाता है उस का नाम अध्यारोप है इस का लक्षण यह हुआ कि "वस्तुनि अवस्त्वारोपः अध्यारोपः" (वस्तु) सत्पदार्थ में (अवस्तु) असत् पदार्थ की कल्पना करने का नाम अध्यारोप है सो यह सब कुछ अध्यारोप से ही कल्पना किया गया है इसी कल्पना से वेदान्तियों के मत में सब प्रमाण प्रमेय व्यवहार बनता है और यह सब तब तक नहीं बनता जब तक अध्यास न माना जाय इस लिये अध्यास मान कर भाष्यकार ने अपने मन्तव्य को वर्णन किया है।

"अन्तमें रज्जुरियं नायं सर्पः" यह रस्सी है सांप नहीं इस कथन के अनुसार मिथ्यारूप संसार भ्रान्ति को मिटा कर "अहं ब्रह्मास्म" इस अपवाद वाक्य से एक ब्रह्मतत्व का बोधन किया है।

वह इस प्रकार कि "अहं ब्रह्मास्मि" इस वाक्य से ब्रह्माकार वृत्ति उत्पन्न होती हुई उस वृत्ति में आरूढ़ चेतन मूलाऽज्ञान का नाश करता हुआ घटनाश से महाकाश में लीलीन आकाश के समान चिद् घन ब्रह्म में लय होजाता है।

फिर वह ब्रह्माकार वृत्ति भी रज्जु को दग्ध करने वाली आग के समान स्वयं भी ब्रह्म में लय को प्राप्त होजाती है।

यहां यह आशङ्का होती है कि स्वयं प्रकाश ब्रह्म से जो मूलाऽज्ञान निवृत्त न हुआ, वह छोटी सी अविद्या की वृत्ति ने कैसे कर दिया? इस का उत्तर यह है कि जैसे समस्त नभो मण्डल वृत्ति सविता भगवान् की तीक्ष्ण रश्मियें एक रूई के टुकड़े को नहीं जला सकतीं पर वही पूर्वोक्त किरणे जब सूर्य्य कान्त मणि के साथ मिल कर रूई के ढेर पर भी जापड़ती हैं तो उस का मूलोच्छेद कर देती हैं एवं वृत्ति के साथ मिला हुआ चेतन ही अज्ञान का विरोधी है वृत्ति रहित नहीं।

इस कथन से उस शङ्का का भी खण्डन होगया जो श्री भाष्यकार रामानुजाचार्य्य ने की है कि यदि स्वतः प्रकाश ब्रह्म भी अज्ञानरूप अन्धकार को नहीं मिटा सकता कि यदि सूर्य्य ही अन्धकार को न मिटाए तो "कः प्रभुस्तन्निवर्त्तने" फिर उस अन्धकार के मिटाने में कौन समर्थ होगा इस का उत्तर आगया और इस अंश का भी पहले उत्तर दिया गया है कि कल्पित अन्धकार को सूर्य्य भी नहीं मिटाता एवं कल्पित अज्ञान को ब्रह्म नहीं हटाता और वास्तविक अज्ञान उस में गन्ध मात्र भी नहीं।

कई एक लोग उक्त वेदान्त में यह प्रबल आशङ्का करते हैं कि मैं करता हूं मैं भोगता हूं यह भी अन्तःकरण की वृत्ति है और (नेहनानास्ति किञ्चन) कि यहां कोई न कर्त्ता है न कोई भोगता किन्तु एक ब्रह्म ही ब्रह्म है यह भी अन्तःकरण की वृत्ति है फिर इस वृत्ति को मैं कर्त्ता हूं मैं भोगता हूं यही वृत्ति क्यों नहीं बाध लेती ?

इस का उत्तर यह है कि दोष जन्य वृत्ति को निर्दोष वृत्ति बांध लेती है यह नियम है अन्य शंका यह है कि निवृत्त हुई हुई उस अविद्या की रज्जु सर्प के समान फिर भी भ्रान्ति होजायगी इसलिये वेदान्तियों की मुक्ति नित्य न नहीं ?

इसका उत्तर यह है कि ज्ञानरूप अग्नि से दग्ध हुआ मूला ज्ञान यदि फिर होजाया करे तो मरी हुई पत्नी भी पुत्रोत्पन्न में फिर आनखड़ी हुआ करे इसमें क्या दोष है ॥

अन्य विलक्षणता भी है कि रज्जु सर्प में कारण सहित अज्ञान का नाश नहीं हुआ और ब्रह्म में कारण सहित अज्ञान का नाश हो चुका है यह भेद है ॥

इस प्रकार ब्रह्माकार वृत्ति द्वारा ब्रह्मवेत्ता जब कारण सहित अज्ञान की निवृत्ति करदेता है तो इस अनर्थ रूपी संसार की निवृत्ति होकर ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होजाति है इसीको वेदान्त सिद्धान्त में मुक्ति कहा जाता है ॥

इसकी प्राप्ति का प्रकार यह है कि श्रवण मनन निदिध्यासन द्वारा जब निखिल अविद्या का नाश होता है

तो मुक्ति होती है (और दशमोमृतः) यह भी अन्तःकरण की वृत्ति है और आविद्यिक है अर्थात् अविद्या का परिणाम है और "दशमस्त्वमसि" और दशमात् है यह भी अन्तःकरण की वृत्ति और आविद्यिक कभी है फिर यह वृत्ति पूर्व वृत्ति को क्यों बाध लेती अर्थात् क्यों मिटादेती है इससे सिद्ध हुआ कि निर्दोष वृत्ति सदोष वृत्ति को बांध लेती है यह नियम है ॥

एवं मैं कर्त्ता हूं मैं भोगता हूं यह दोनों भ्रान्ति मूलक वृत्तियें हैं और नेहनानास्ति किंचन यह आप्तवाक्य जन्य होने से भ्रान्ति रहित वृत्ति है इसलिये आविद्यिक अंश में दोनों की तुल्यता होने पर भी बाध्य बाधक भाव होजाता है इसमें कोई दोष नहीं ॥

और जो यह शङ्का की जाती है कि रज्जू में सर्प भ्रमके मिटजाने पर यदि वही रज्जू समयान्तर में फिर कहीं दीखजाय तो फिर भी उसमें रजत भ्रम होजाता है एवं ब्रह्म का साक्षात्कार हो कर जो तद्विषयक अविद्या मिट जाती है तो उक्त मुक्त पद की प्राप्ति होती है उसमें पुनः भ्रम क्यों न होजाय मुक्ति की कारण सहित अविद्या निवृत्त हो चुकी है इसलिये पुनः भ्रम होकर फिर बन्ध नहीं होता। और श्रवण नाम यहां श्रुतियों से निर्धारित अर्थ के सुनने का है उसी अर्थ को वेदानुकूल तर्कों द्वारा ब्रह्मात्मैकतत्व में निश्चय करने का नाम मनन है उक्त ब्रह्मैकात्मवस्तु को विजातीय प्रत्यों को हटाकर एक अनवरतब्रह्म कार वृत्ति उत्पन्न करने का नाम यहां निदिध्यासन है और योग स्वात्मभूत ब्रह्मात्मा में चित वृत्ति निरोध का नाम है ॥

यहां यह आशङ्का होती है कि भाष्यकार ने "एतेनयोगः प्रत्युक्ताः" इस सूत्रमें योग का खण्डन किया है फिर श्रवण मनन और निदिध्यासनादिकों के समान वेदान्त शास्त्र में योग कैसे माना जा सकता है ? इसका उत्तर यह है कि वेदान्त सिद्धान्त में अन्य शास्त्रों के समान योग की भी दैतनादियों में ही गणना है कि जिस प्रकार भाष्यकार ने सांख्य, न्याय, वैशेषिक, आदिकों का खण्डन किया है एवं योग का भी खण्डन किया है अर्थात् खण्डन करने के योग्य है पर जिन अंशों में योग वेदान्त का सहायक है उन अंशों में माननीय है अर्थात ब्रह्माकार वृत्ति का सहायक है ॥

और जो यह कहा जाता है कि "एतेनयोगः प्रत्युक्तः" इस सूत्रमें योग का खण्डन है इससे पाया जाता है कि शास्त्रों में भी परस्पर विरोध है और एक दूसरे का खण्डन करते हैं इसका उत्तर यह है कि उक्त सूत्रमें योग का खण्डन नहीं क्योंकि यह सूत्र ब्रह्म सूत्रों के स्मृतिपाद में आया है वहां यह विचार है कि स्मृतियें दो प्रकार की पाई जाती हैं एक वह जो ब्रह्म को अभिन्ननिमित्तोपादान कारण मानती हैं और दूसरी सांख्य शास्त्र की मानी हुई प्रकृति को। एवं एक जीव ब्रह्म को एक मानने वाली हैं और दूसरी भेद मानने वाली हैं इनमें से किसको माना जाय और किसका त्याग किया जाय सूत्रकार महर्षि व्यासजी की उक्त विषयमें यह सम्मति है कि जो भेद मानने वाली स्मृतिये हैं उनको वेद विरोधिनी होने से छोड़देना चाहिये और जो अभेद मानने वाली हैं उनका ग्रहण कर लेना चाहिये इसी प्रसङ्ग में "एतेनयोगः प्रत्युक्तः" यह सूत्र आया

है जिसके भाषा में यह अर्थ होते हैं कि इससे योग विषय में भी कह दिया गया अर्थात् उन स्मृतियों के समान योग का भी खण्डन कर दिया गया इससे तो यह स्पष्ट पाया जाता है कि जिस विषय में स्मृतियों के समान योग भी अद्वैत का विरोधी है उस विषय में खण्डन करने के योग्य है अन्य अंशों में नहीं अथवा यों कहो कि योग स्मृति के विषय में भी वही सम्मति है जो अन्य स्मृतियों के विषय में थी। अर्थात् योग शास्त्र में भी प्रकृति को उपादान कारण माना गया है और जीव ब्रह्म का भेद स्पष्ट है इसलिये योग स्मृति भी माननीय नहीं ॥

कई एक लोग यहां यह कहते हैं कि जिस समय वेदान्त सूत्र बने उस समय में यह सांख्य शास्त्र न था जो आज कल सूत्रों के रूप में मिलता है और वे लोग युक्ति यह देते हैं कि जब वेदान्त सूत्रों में सांख्य शास्त्र के सिद्धान्तों का बल पूर्वक खण्डन किया गया है, तो उस समय यदि सांख्य सूत्र होते तो उन के उदाहरण अनेक स्थानों में दिये जाते इस से स्पष्ट सिद्ध है कि उस समय सांख्य सूत्र न थे ? इस का उत्तर यह है कि यदि उदाहरण न देने से पूर्वोक्त परिणाम निकाल लिया जाता है तो फिर योग सूत्रों के उदाहरण महर्षी व्यास जी ने क्यों नहीं दिये, क्योंकि यह तो सर्व सम्मत है कि योग सूत्र बहुत पुराने हैं और पाणिनी व्याकरण के समकाल के हैं इस प्रकार बौद्ध धर्म्म से भी सहस्रों वर्ष पूर्व के सिद्ध होते हैं फिर उन का कोई उदाहरण न देकर "एतेनयोगाः प्रत्युक्तः" इतना कथन क्यों किया इस से स्पष्ट सिद्ध है कि

यह प्रकरण योग शास्त्र के खण्डन का नहीं किन्तु अपने मन्तव्य के विरुद्ध जो अंश है उन के परित्याग का है।

भाव यह है कि सूत्रकार महर्षि व्यास जी ने तो किसी शास्त्र के सूत्र का उदाहरण देकर कहीं भी खण्डन नहीं किया परन्तु भाष्यकार शङ्कराचार्य्यजी यह मानते हैं कि वेदान्त से भिन्न पांचों दर्शन अद्वैतवादि होने से अवैदिक हैं अर्थात् वेद मत से विरुद्ध हैं अस्तु यहां हमने किसी के मताऽमत का विचार नहीं करना विचार तो वेदान्त फिलासफी का है कि योग दर्शन कहां तक अद्वैत का सहायक है. सो योग भी तत्वदर्शना का एक उपाय है जैसा कि:—

"तत्वदर्शनाभ्युपायोहियोगः"

यह भाष्यकार ने भी माना है कि वह तत्व दर्शन का उपाय है पर इतनी अंश का खण्डन किया है कि

"द्वैतिनौहितेसांख्या योगाश्चनात्मैकत्वदर्शिनः"

शं०भा० २। १। सांख्य और योग दोनों ही द्वैतवादि, आत्मा के एकत्व के दिखलाने वाले नहीं. अर्थात् ब्रह्म ही एक तत्व है इस की सिद्धि करने वाले नहीं और आगे लिखा है कि:—

तत्त्वज्ञानन्तु वेदान्त वाक्येभ्यः एव भवति।
नावेदविन्मनुतेतं बृहन्तम्॥

तत्वज्ञान तो वेदान्त वाक्यों से ही होता है जैसा कि इस उपनिषद में लिखा है कि वेद के न जानने वाला उस ब्रह्म को नहीं जान सकता इसलिये 'तत्व दर्शनाभ्युपायोहियोगः यह कथन केवल इतने अंश में ग्रहण करने योग्य है कि

ब्रह्माकारवृत्ति ब्रह्म पदार्थ में चित्तवृत्तिनिरोध द्वारा योग अद्वैतवाद का पोषक है और मोह की निवृत्ति का कारण है।

आध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वाधीरो हर्ष शोकौ जहाति ॥

अर्थ–आत्म विषयक योग की प्राप्ति से ही पुरुष हर्ष शोक से रहित होसकता है ॥ "ततस्तुतंपश्यन्तिध्यायमानः"= बुद्धि शुद्धि के अनन्तर ध्यान योग से पुरुष उसको देख सकता है, ठीक है योगी से भिन्न किसी पुरुष को भी ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं होसकता, देखने के अर्थ यहां आखों से देखने के नहीं किन्तु आत्मवत् अनुभव करने के हैं ॥

तां योगमिति मन्यन्तेस्थिरामिन्द्रियधारणामप्रमत्त-स्तदाभवतियोगो हि प्रभवाप्ययौ।

अर्थ–जब चित्तवृत्ति स्थिर होजाती है तब उसका नाम योग है अर्थात् ब्रह्माकार चित्तवृत्ति को उत्पन्न करने वाला योग है, और पुनः वही योग अर्थात् ब्रह्माकारवृत्ति ब्रह्मविषयक आवरण को भङ्ग करके स्वयं भी नाश को प्राप्त होती है जैसे कि ईन्धनों को जलाकर अग्नि स्वयं भी नाश को प्राप्त होती है।

यहां ब्रह्म को विषय करने वाली वृत्ति का यह प्रकार मानते हैं कि ब्रह्म में वृत्ति केवल आवरण का नाश करती है, ब्रह्म पहले ही स्वयं प्रकाश है इसलिये उसे प्रकाशित करने की आवश्यकता नहीं,

और घटपटादि जड़ पदार्थों में यह प्रकार है कि वृत्ति आवरण को भी हटाती है और उनमें ज्ञान को उत्पन्न भी करती है इस का नाम फलव्याप्ति है, क्योंकि उसने फल रूप ज्ञान को उत्पन्न किया है इसीलिये कहा है कि:—

ब्रह्मणि अज्ञान नाशाय वृत्ति व्याप्तिरपेक्ष्यते ।

अर्थ–ब्रह्म में अज्ञान नाश के लिये केवल वृत्तिव्याप्ति की ही आवश्यकता होती है पूर्वोक्त फल व्याप्ति की नहीं ।

भाव यह है कि जब घटादिक पदार्थों को अन्तःकरण की वृत्ति विषय करती है अर्थात् उनका प्रकाश करती है तो यह प्रकार है कि अन्तःकरण परिणाम को प्राप्त होकर उस विषय अर्थात् प्रमेय जो प्रमाण का विषय है उसकी ओर झुकती है इसी का नाम वेदान्तियों के मत में वृत्ति है अर्थात् अन्तःकरण के परिणाम का नाम वृत्ति है और अन्तःकरण के जड़ होने के कारण वह भी जड़ ही मानी गई है और जब वह घट वा पट का प्रकाश करती है तो उस वृत्ति में प्रतिबिम्बित चेतन घट और पट के अधिष्ठान चेतन के आवरण को भङ्ग करके उस घट का प्रकाशक होता है इसका नाम फल व्याप्ति है ।

और ब्रह्म में ऐसा नहीं क्योंकि ब्रह्म स्वयंप्रकाश है उसका वृत्यवच्छिन्नचेतन केवल आवरण भङ्ग करता है प्रकाश नहीं, इस प्रकार केवल वृत्ति का विषय होने से इसका नाम वृत्तिव्याप्ति है, यह प्रसंग विस्तृत है इसलिये इसको मुक्ति विषय में लिखेंगे जहां वेदान्तियों ने अहंब्रह्मास्मि इस वृत्ति को मुक्ति का कारण माना है।

यहां मुख्य प्रसङ्ग यह है कि योग की प्रधानता शास्त्र कहां तक वर्णन करता है "ते ध्यानयोगानुगताऽपश्यन्"=उन्होंने ध्यान योग के प्रभाव से उस ब्रह्म को देखा "यच्छेतवाङ्मनसिप्राज्ञः" बुद्धिमान् योग की शक्ति के द्वारा वाणी को मन में लय करे ॥

और स्मृतियें, इसके प्रभाव को यों कथन करती हैं कि

" ध्यानयोगेनसम्पश्येत्गतीमस्यान्तरात्मनः ।
सूक्ष्मताचान्वेक्षेतयोगेनपरमात्मनः ॥ याज्ञवल्क्य

अर्थ–ध्यान योग द्वारा इस अन्तरात्मा की गति को देखे और उसकी सूक्ष्मता का भी योग द्वारा विचार करे ।

इज्याचारदमोऽहिंसादानं स्वाध्यायकर्म्मणां ।
अयन्तु परमोधर्म्मः यदयोगेनात्मदर्शनम्॥
अग्निष्टोमादिकान् सर्वान् विहाय द्विजसत्तमः ।
योगाऽभ्यासरतः शान्तः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥
स्वसं वेद्यं हि तद्ब्रह्म कुमारी स्त्री सुखं यथा ।
अयोगिनैव जानन्तिजात्यन्धोहियथाघटम्

अर्थ–इत्यादि स्मृतियों में यह कथन किया है कि यज्ञ दान अध्ययन सत्कर्म्म इन सब से बड़ा धर्म्म यह है कि जो योग मार्ग द्वारा आत्मा का दर्शन करना है इससे उत्तम कोई धर्म्म नहीं

युञ्जन्नेवंसदात्मानं
योगिनियतमानसः
योगात्संजायतेज्ञानं
आत्मज्ञानेन मुक्तिस्यात्
तच्चयोगादृतेन हि
अतः परं प्रवक्ष्यामि योगंपरमदुर्लभम्
येनात्मानं प्रपश्यन्ति, भानुमन्तमिवेश्वरम् ॥
योगाग्नि दहतित्तिग्रमशेषंपापपञ्जरं ।
प्रसन्नं जायतेज्ञानं, ज्ञानान्निर्वाणमृच्छति ॥
द्वौक्रमौचित्तनाशाय योगोज्ञानञ्चराघव ॥
योगोवृत्ति निरोधोहि ज्ञानंसम्यगवेक्षणम् ॥
दुःसह राम संसार विषवेग विसूचिका ।
योगगारुड़मन्त्रेण पावनेन विशाम्यति ॥

इत्यादि अनेक स्मृति इतिहास पुराण योग के महत्व को कथन करते और यह दर्शाते हैं कि आत्म साक्षात्कार का योग मुख्य साधन है और जो "एतेनयोगः प्रत्युक्तः" ब्र० सू० २।१।३ इस सूत्र में सूत्रकार ने योग का खण्डन किया है वह इस अभिप्राय से है कि जो अंश योग का वेद के विरुद्ध है वह त्यागने योग्य है, जैसा कि अन्य स्मृतियों के विषय में भी कथन किया है कि जो ब्रह्म को अभिन्ननिमित्तोपादान नहीं मानती, इसी प्रकार योग के विषय में सांख्य

के समान अद्वैतवाद के विरोधी अंशों का त्याग है ब्रह्म साक्षात्कार के हेतुभूत अद्वैत योग का नहीं।

अन्य युक्ति यह है कि यदि सूत्रकार सर्वथा ही योग का निषेध करते तो योगसूत्रों पर भाष्य कदापि न करते अस्तु मुख्य प्रसङ्ग यहां अद्वैतयोग का है कि इसका समर्थन वेदोपनिषदों में किस प्रकार है और अद्वैत योग के साधक वाक्य कहां तक पाये जाते हैं ? इसलिये हम यहां अद्वैत साधक वाक्यों को उद्धृत करते हैं:—

प्रज्ञानंब्रह्म, ऐत्तरेय अयमात्माब्रह्म, माण्डूक्य अहंब्रह्मास्मि, बृ० १। ४ तत्त्वमसि, छा० यत्रहिद्वैतमिवभवति तदितरः इतरं पश्यति, योसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि, ब्रह्मविद्ब्रह्मैवभवति, तत्रकोमोहःकः शोकः एकत्वमनुपश्यतः, ब्रह्मैवसन् ब्रह्माप्येति, यथानद्याः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति, नतस्यप्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैवसमनीयन्ते । मृत्योसमृत्युमाप्नोति य इहनानेव पश्यति, उदरमन्तरं कुरुते, अथ तस्यभयंभवति, यदज्ञानाज्जगदभातिरज्जूसर्प स्वगादिवत् यदज्ञानाल्लयमाप्नोति नुमस्तां भुवनेश्वरीं एकमेवाद्वितीयं, नेहनानास्ति किञ्चन, तत्सृष्ट्वातादेनु प्राविशत्, आनन्दवाल्लिद्द आत्मावाएक एवाग्र आसीन्नान्यत किंचनमिषत् ॥

इत्यादि वाक्यों में एक अद्वैत ब्रह्म का प्रतिपादन किया है उस अद्वैत के साक्षात्कार का नाम अद्वैतयोग है। वा यों कहो कि दशमस्त्वमसि के समान अपने में दशमाऽभाव की भ्रान्ती को दूरकर ब्रह्म बन जाता है इसका नाम वेदान्त शास्त्र में अपवाद है, अपवाद के अर्थ मिथ्यापन को हटाकर जो उस मिथ्या वस्तु का आश्रय था उसको बता देने के हैं इस विषय में यह आशङ्का है कि क्या शब्दमात्र के ज्ञान से तत्व वस्तु की प्राप्ति होजाती है यदि ऐसा हुआ करे तो "त्वंनिष्पापोभव"=तू पाप रहित होजा, इतने मात्र से मनुष्य महात्मा क्यों न बनजाया करे, इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि वाक्य मात्र का ज्ञान कोई पुरुषार्थ की प्राप्ती नहीं करता जब उपदेष्टा के कथनानुकूल पुरुष अनुष्ठान करता है तब वह (उपादेय) अर्थात् ग्राह्य पदार्थ को ग्रहण करता है (हेय) अर्थात् त्याग योग पदार्थ का त्याग करता है अन्यथा नहीं। इस प्रश्न का उत्तर वेदान्ति यह देते हैं कि हमारे सिद्धान्त में शब्दमात्र के ज्ञान से भी तत्व की प्राप्ति हो जाती है, जैसाके "रज्जूरियं नायंसर्पः"=यह रस्सी है सांप नहीं, यहां वाक्यमात्र के ज्ञान से रस्सीरूप तत्व की प्राप्ति होजाती है, इस प्रकार "नेहनानास्ति किञ्चन" इस वाक्य से संसार भर की निवृत्ति होकर एक ब्रह्मतत्व की प्राप्ति होजाती है इसमें कोई दोष नहीं॥

कई एक लोग यह भी आशङ्का करते हैं कि शब्द से अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता किन्तु परोक्षज्ञान ही हुआ करता है जैसे कि किसी आप्त पुरुष ने कहा कि अमुक स्थान में वृष्टि हुई है तो इस शब्द

से वृष्टि का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता किन्तु इतना ही ज्ञान होता है कि अमुक स्थान में वृष्टि हुई है अधिक नहीं, इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यह नियम नहीं कि शब्द परोक्ष ज्ञान ही उत्पन्न करे किन्तु यह बात तो विषय की योग्यता के अधीन है यदि विषय प्रत्यक्ष योग्य है तो साक्षात्कार होजाता है यदि नहीं तो साक्षात्कार नहीं होता, जैसेकि किसी पुरुष को कहा कि तू धर्म्म वाला है यहां उसको अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता पर जब उसको यह कहें कि—

"त्वं सुखी"=तू सुखवाला है तो अपरोक्ष ज्ञान ही होता है,क्योंकि सुख दुःख अपरोक्ष की योग्यता रखते हैं ॥

विशेष नियम यह है कि अभेद बोधक वाक्य से अपरोक्षज्ञान होता है अन्य से नहीं, जैसाकि जहां दशपुरुषों में दशमे को यह भ्रम हुआ कि हममें दशवां नहीं वहां दशमोऽस्ति इस वाक्य से परोक्ष ज्ञान ही होता है अपरोक्ष कदापि नहीं पर जब उसी को यह कहदिया जाता है कि—

दशमस्त्वमसि

दसवां तू है तो इस अभेद बोधक वाक्य से अपरोक्ष ज्ञान ही होता है इस प्रकार अवान्तर वाक्यों से सदा परोक्ष ज्ञान ही रहता है जैसे कि "सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म"=ब्रह्म सच्चिदानन्दस्वरूप है पर जब उसे ब्रह्म के विषय में—

अहं ब्रह्मास्मि

यह ज्ञान महा वाक्य होता है तो इससे सदा अपरोक्ष ज्ञान ही होता है अर्थात् फिर अपने आत्मभूत ब्रह्म का साक्षात्कार होजाता है।

अभेद बोधक वाक्यों को वेदान्ति **महावाक्य** कहते हैं और अन्य ब्रह्म के स्वरूप मात्र के बोध करने वाले वाक्यों को अवान्तर वाक्य कहते हैं।

तात्पर्य्य है कि शब्द से अपरोक्ष ज्ञान होजाता है जैसे कि "दशमस्त्वमसि" इस वाक्य से होता है, इसमें कोई दोष नहीं। मुख्य प्रसंग यह है कि:—

नेहनानास्ति किञ्चन

यहां नाना वस्तुयें नहीं हैं अर्थात् सब भ्रम से प्रतीत होती है और वस्तुत एक ब्रह्म ही है इस अपवाद वाक्य से जितने माया रूप उपादान कारण वाले पदार्थ हैं उन सब का बाध होजाता है।

इस स्थल में वेदान्ति अभावों का भी ब्रह्म में रज्जु सर्प के समान "अध्यस्ततादात्म्य" सम्बन्ध सिद्ध करते हैं अर्थात् अभाव भी ब्रह्म में रज्जु सर्प के समान कल्पित हैं, अभाव चार प्रकार के प्रसिद्ध हैं।

प्रागभाव, प्रध्वंसाऽभाव, अत्यन्ताऽभाव, अन्योन्याभाव"= जो वस्तु अनादि काल से आज तक नहीं हुई उस

का अपने कारण में जो अभाव होता है उस का नाम 'प्रागभाव' है अर्थात् पहले से ही न होने का नाम प्रागभाव है यह अनादि सान्त होता है अर्थात् आद तो इस का नहीं पर अन्त होजाता है इस लिये अनादि सान्त कहलाता है।

दूसरा "प्रध्वंसाऽभाव" जो नाशरूप अभाव हो अर्थात् किसी पदार्थ का नाश होजाना जैसे घट का नाश, यह सादि अनन्त होता है अर्थात् आद तो इस का होता है पर अन्त नहीं।

तीसरा "अत्यन्ताऽभाव" जो सदा से किसी वस्तु का न होना है यह अनादि अनन्त होता है।

चौथा "अन्योन्याऽभाव" अर्थात एक में दूसरे का न होना इस को भेद भी कहते हैं यह चारों प्रकार के अभाव भी वेदान्त मत में ब्रह्म में लय होजाते हैं अर्थात् अपने कारण में समा जाते हैं।

इसी प्रकार काल दिशा, आकाश इत्यादि जो अन्य शास्त्रकारों ने नित्य माने हैं वे भी ब्र में लय होजाते हैं क्योंकि यह तीनों भी सापेक्ष पदार्थ हैं, वास्तव में नहीं। काल पदार्थों के बढ़ने घटने से कल्पना किया गया है। दिशा पूर्वोत्तर दक्षिणादि भी किसी अन्य पदार्थ की अपेक्षा से मानी जाती हैं इन सब का अभाव बोधक—

नेहनानाऽस्ति किञ्चन

यह वाक्य है कि ब्रह्म से भिन्न और कुछ भी नहीं इस का नाम अपवाद वाक्य है ।

इति श्री मदार्य्यमुनिनोपनिबद्धायां वेदान्ततत्त्व कौमुद्यां, अध्यासापवादनिरूपणं नाम तृतीयः परिच्छेदः समाप्तः ।

अथ मायानिरूपणं नाम चतुर्थः परिच्छेदः प्रारभ्यते ।

वेदान्त मत में माया के क्या अर्थ है? और यह कहां से ली गई है इस बात का निरूपण इस परिच्छेद में भली भान्ति किया जायगा और यह भी निरूपण किया जायगा कि उक्त माया के बन्धन से रहित होकर मनुष्य किस प्रकार मुक्त होसकता है तथा मुक्ति क्या पदार्थ है इत्यादि सिद्धान्तों का इस में विस्तारपूर्वक निरूपण किया जायगा ।

इन्द्रो मायादि पुरुरूप ईयते ऋ०६।४।४७ मं० १८
नीहारेण प्रावृत्ता । ऋ० मं० १० । ६ । ८२ ।

इन दो वेद मन्त्रों में माया शब्द और नीहार शब्द स्पष्ट पाया जाता है पर वह अर्थ नहीं देता जिस में मायावादि इस का व्यवहार करते हैं मायावादियों के मत में मायाशब्द का व्यवहार मिथ्या के अर्थों में है सो उक्त मन्त्रों में मिथ्यार्थ प्रतिपादक माया शब्द नहीं किन्तु शक्ति के अर्थ का प्रतिपादक है पूर्व मन्त्र के अर्थ यह है कि इन्द्र परमात्मा अपनी मायारूप शक्ति से अनेक कार्यों को उत्पन्न कर लेता है और प्रत्येक रूप में स्वयं व्यापक होता है

क्योंकि उस की अनन्त शक्तियें हैं अर्थात् किन्हीं हाथ पादादिकों के अधीन होकर सृष्टि को नहीं बनाता किन्तु स्वयंकर्त्ता है।

और दूसरे के यह अर्थ हैं कि जीव उस परमात्मा तत्व को नहीं जानते कारण यह है कि वे नीहार सदृश अज्ञान से आछादित होरहे हैं (नीहार) के अर्थ यहां कोहरे वा धुन्द के हैं अर्थात् अज्ञान रूपी पड़दे से उनकी बुद्धि ढकी हुई है, यहां भी अज्ञान शब्द मिथ्यार्थ प्रतिपादक नहीं क्योंकि नीहार मिथ्या नहीं होता एवं पूर्वोत्तर विचार करने से यह दृढ़ता पूर्वक कहा सकता है कि चारों वेदों में माया शब्द मिथ्या के लिये कहीं भी नहीं आया।

अब विचार यह है कि उपनिषदों में माया की क्या कथा है बृहदारणक उपनिषद् में भी माया शब्द ईश्वर की शक्ति के लिये आया है।

मायान्तु प्रकृतीं विद्यात। श्वेताश्वतर म० ४। १४

यहां तो स्पष्टउपादान कारण के लिये ही मायाशब्द आया है बहुत क्या जो दशोपनिषद्दों से नवीन समय का बना हुआ श्वेताश्वतर उपनिषद है उस में भी माया शब्द शङ्कर मत का पोषक नहीं, श्रीशङ्कराचार्य्यजी को तो ऐसी शक्तिमती माया की आवश्यकता है जैसा कि उन्होंने यह कहा है कि:—

अविद्यात्मक नाम रूपबीज व्याकरणाऽपेक्षत्वात् सर्वज्ञत्वस्य। शं० भा० ब्र०सू० २।१।१४।

अर्थ—अविद्या शक्ति रूप जो नाम और रूप बीज उस की (अपेक्षा) अर्थात् उन दोनों बीजों से ईश्वर ने सृष्टि बनाई और उसी अविद्या रूप अथवा यों कहो कि उसी नामरूप माया से ईश्वर में सर्वज्ञता आई, इस प्रकार की अविद्या का वर्णन वेद ब्राह्मण उपनिषद् और सूत्रों में कहीं भी नहीं केवल एक सूत्र में यह वर्णन किया है कि स्वप्न का ज्ञान माया मात्र है, सो इस से जाग्रत के पदार्थ मिथ्या कदापि सिद्ध नहीं हो सकते अस्तु इस कथा को वेदान्त फिलासफी से क्या सम्बन्ध यह तो वेद का अन्त अर्थात् वेद से बाहर है इसी आशय से मुण्डक उपनिषद् के भाष्य में स्वामी शङ्कराचार्य्य जी ने वेदों में पराविद्या को नहीं माना किन्तु पराविद्या जिस से अक्षर ब्रह्म का ज्ञान हो उसी को माना है, अन्य को नहीं इस बात को हम प्रथम भी निरूपण कर आए हैं कि वेदान्त फिलासफी के आचार्य्य स्वतन्त्र प्रज्ञ आचार्य्य थे। जो उन्होंने वेद वेदान्तादि शास्त्रों की शरण कई एक स्थानों में ली है वह केवल कर्म्म काण्ड के अभिप्राय से है अस्तु मुख्य प्रसङ्ग यह है कि इस अघटनघटनापटीयसीमाया का प्रथम आविष्कार कर्त्ता कौन हुआ है ?

हमारे विचार में पूर्णरूप से इसके जन्म दाता गौड़पादाचार्य्य हुए हैं यद्यपि बीज इसका बौद्धादि अन्य मतों में भी था पर इस प्रकार यह भूषण मयी होकर संसार भरके किसी दर्शन में नहीं आविराजी जैसेकि वेदान्त दर्शनमें आविराजी है ॥

भाव यह है कि जैसे अध्यास की फिलासफी को निकालने

का सौभाग्य स्वामी शङ्कराचार्य्य जी को मिला है एवं मायावाद की फिलासफी को निकालने का सौभाग्य गौडपादाचार्य्य जी को है ॥

गौडपादाचार्य्य माया का यों वर्णन करते हैं कि—

अनादि मायया सुप्तोयदाजीवः प्रबुध्यते ।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यतेतदा ॥१६॥

अर्थ—अनादि माया से सोया हुआ जीव जब जागता है तब वह अद्वयतत्वको जानता है अन्यथा नहीं ॥

प्रपञ्चोयदि विद्येत निवर्त्तेतनसंशयः ।
मायामात्रामिदं द्वैतमद्वैतंपरमार्थतः ॥

अर्थ—इस संसार की यदि कुछ सत्ता हो तो यह निवृत्त भी हो पर जब इसका द्वैतपन मायामात्र ही है तो फिर निवृत्ति क्या ? वास्तव में एक अद्वैत ब्रह्म ही है अन्य कोई वस्तु नहीं:—

निश्चितायांयथा रज्जवां विकल्पोविनिवर्त्तते ।
रज्जुरेवेतिचाद्वैतं तदवत् आत्मविनिश्चयः ॥१८॥

अर्थ—जिस प्रकार रस्सी के निश्चित होने पर यह विकल्प मिट जाता है कि यह रस्सी है सांप नहीं एवं आत्मा के एकत्व जानने से यह सांप रूप संसार मिटजाता है ।

प्राणादिभिरनन्तैश्च भावैरेतैर्विकल्पितः ।
मायैषातस्यदेवस्य यया संमोहितः स्वयम् ॥१९॥

अर्थ—यह प्राण है यह मन है यह शरीर है इत्यादि पदार्थों से जिसकी कल्पना की जाती है वह अपनी माया से आप ही भूला हुआ है ॥

मायया भिद्यते ह्येतन्नान्यथाऽजंकथंचन ।
तत्वतोभिद्यमाने हिमर्त्यतामृतं व्रजेत् ॥१६॥

अर्थ—यह आत्मा माया के कारण ही भेद को प्राप्त होरहा है वास्तव में नहीं क्योंकि यह निरवयववस्तु है निरवयववस्तु यदि वास्तव में भेद को प्राप्त हो तो परिणाम को प्राप्त होजाती है ऐसा होने से अमृत होता हुआ भी मृत्यु को प्राप्त होजायगा ॥

नेहनानेतिचाम्नायादिन्द्रोमायाभिरित्यपि ।
अजायमानो बहुधामायया जायतेतुसः ॥२४॥

अर्थ–उक्त श्लोक में दो वाक्यों के प्रमाण दिये हैं एक "नेहनानास्तिकिञ्चन । कठ ४ । और जिसको हम ऋग्वेद का मन्त्र लिख आए हैं उक्त दोनों वाक्यों में माया वाद नहीं कठ वाक्य का तात्पर्य्य तो ईश्वर में एकता सिद्ध करने का है । और वेद मन्त्र का तात्पर्य्य ईश्वर की शक्ति के प्रति पादन का है पर ग्रन्थ कर्त्ता ने अपनी माया से उक्त दोनों वाक्यों को माया वाद में खैंच लिया अस्तु हमारा अभिप्राय तो माया वाद की उत्पत्ति दिखलाने का है कि माया वाद कहां से आया हमने सिद्ध कर दिया कि इस के प्रवर्त्तक गौड़पादाचार्य्य हैं ॥

कहां तक लिखें इन कारि कायों में माया वाद का बीज ही नहीं किन्तु बड़ा विशाल वृक्ष है जिसकी छाया में अनेक विहंगम माया वादि आकर निवास करते हैं ॥

भाव यह है कि प्रत्येक माया वादि के लिये जैसे यह ग्रन्थ है ऐसा अन्य कोई भी ग्रन्थ इनके मत का पोषक नहीं ॥

और उपनिषदों में तो माया शब्द ही दुर्ल्लभ है बृहदारण्यक म जो इन्द्रोमायाभिः पुरुरूपईते यह वाक्य हैं इसके वही अर्थ हैं। और जो वेद में हैं। कपट झूंठ दम्भ के अर्थों में एक स्थान में प्रश्नोपनिषद् में माया शब्द आया है ॥

श्वेताश्वतर में केवल एक स्थान में माया शब्द है सो भी प्रकृति के लिये आया है जैसा कि—

मायान्तु प्रकृतिं विद्यात् ।
मायिनन्तु महेश्वरम् ॥ श्वे० ४, १०

यहां स्पष्ट जगत् के कारण भूत प्रकृति के अर्थों में हैं रज्जु सर्प वाली माया के अर्थों में नहीं एवं विचार करने से वेदान्त का माया वाद गौड़पादाचार्य्य से चला है इनकी कारिकायों में घटा काश, मठाकाश, रज्जुसर्प शुक्तिरजत, ही सर्वत्र भरा पड़ा है ॥

मालूम होता है कि "घट करकाद्युपाधिः" घटाऽकाश स्थानीयान् जीवान् शं० भा० २।१।१४ इत्यादि स्थानों में घटा काश स्थानी जीवों को मानना और ईश्वर को महाकाश के समान

मानना श्रीस्वामीशंकराचार्य्यजी ने भी गौड़पादाचार्य्य से सीखा है अस्तु ।

कहीं से सीखा हो इससे हमको क्या ? मुख्य बात यह है कि वेदान्त फिलासफी की जड़ मायावाद से जमी है ॥

इसीके आश्रित घटाकाश मठाकाशादि सब आकाश हैं इसी के सहारे रज्जू सर्प शुक्ति रजतादि अनेक दृष्टान्त हैं ॥

सच्च तो यह है कि यदि तीनों प्रस्थानों पर ही इसकी नींव रखी जाती अर्थात् १ गीता, २ उपनिषद, ३ व्याससूत्र यदि इन तीनों के सहारे ही यह अद्वैतमत होता तो इसमें यह रौनक ना आती जो मायावाद से आगई है ॥

कारण यह कि उक्त तीनों ग्रन्थों में रज्जू सांप और शुक्ति रजत तथा घटाकाश मठाकाशों का नाम तक नहीं अस्तुः—

विचार योग्य अंश यहां यह है कि माया के सहारे इन्हों ने फिर अपनी प्रक्रिया को कैसे बनाया ?

शङ्कर भाष्य में माया और अविद्या दोनों नाम प्रकृति के अर्थात् उपादान कारण के माने हैं ॥

उस माया में जो चेतन का प्रतिबिम्ब है उसका नाम ईश्वर है और अविद्या में चेतन के प्रतिबिम्ब का नाम जीव है ॥

ईश्वर की मायारूप उपाधि शुद्ध सत्व प्रधान है, अर्थात् उसके सत्वगुण का उत्कर्ष है वह रजस्तमस् से दबा हुआ न नहीं इसलिये ईश्वर सर्वज्ञ है और जीव की उपाधि मलिनसत्व प्रधान है अर्थात् उसका सत्वांश अन्य गुणों से दबा हुआ है इसलिये जीव अल्पज्ञ है

जीव ईश्वर की उत्पत्ति का प्रकार है ॥

और इन दोनों को यह अनादि इसलिये कहते हैं कि चेतन अंश उत्पत्ति से रहित है इसलिये ये अनादि हैं इन्हीं के कईएक सम्प्रदायी प्रतिबिम्ब वाद में यह दोष देते हैं कि निराकार पदार्थ का प्रतिबिम्ब नहीं होसकता इसलिये अवच्छेदवाद माना जाता है अर्थात् घटाकाश के समान जो चेतन मायारूपी उपाधि अविच्छिन्न होगया अर्थात् मिल गया वह ईश्वर और अविद्या अवच्छिन्न जीव कहलाया इसका नाम अवच्छेद वाद है इसी प्रकार कईएक आभास वाद को मानते हैं कि चेतन का आभास मात्र जीव ईश्वर हैं अर्थात् मिथ्या आभास जो दर्पणादिकों में होता है तदवत है इत्यादि अनेक भेद हैं इन अवान्तर भेदो से हमें क्या ?

मुख्य प्रयोजन तो यह है कि पूर्णरूप में इस वेदान्त फिलासफी को लानेवाले स्वामी शङ्कराचार्य्य जी हैं जिनके आश्रय से अन्य तदनुयायियों ने नाना वाद निकाल लिये पर मुख्य वाद यह है कि माया के वशी भूत होकर ब्रह्म नाना रूपों को प्राप्त होगया इसलिये इसका नाम **मायावाद** है और यह कोई निन्दा की बात नहीं किन्तु स्वामीशङ्कराचार्य्यजी "स्वपक्षदोषाच्च" ब्रसू०२।१,१९ इससूत्र के भाष्य में अपने आपको अभिमान के साथ माया वादि कहते हैं कि यह गुण मायावाद में ही है कि परमाणु वादकी प्रक्रिया के समान इसमें एक भी दोष नहीं ॥

सब कार्य्य माया की वृत्तियों से ही होजाते हैं अन्त को ब्रह्म नित्य, शुद्ध, बुद्ध,मुक्त,स्वभाव बना रहता है साधक बाधकता अर्थात् किसी को मिटाना वा बनाना या यों कहो कि किसी का खण्डन

और किसी का मण्डन यह सब माया में ही हैं वास्तव में नहीं ॥

बहुत क्या जहां बनावट वा कार्य्य हैं वह सब मायिक है और तो क्या जीवनमुक्त की मुक्ति भी माया की दृष्टि जन्य है, इसलिये माया के मिटजाने से वह भी मिटजायगी केवल कैवल्य मुक्ति वेदान्त सिद्धान्त में कार्य्य नहीं मानी जाती किन्तु अविद्या का प्रध्वंसाऽभावरूप मानी जाती हैं और आनन्द की प्राप्ति स्वरूप भूत है इसलिये मुक्ति को इन्हों ने नित्य प्राप्त की प्राप्ति रूप माना है प्रमाण यह दिया है कि:—

विमुक्तश्च विमुच्यतेकठ कि मुक्त हुआ हुआ ही भ्रान्ती से अपने को मुक्त हुआ मानता है इसलिये गौड़पादाचार्य्य ने कहा है कि नमुमुक्षुर्नचवैमुक्तः न कोई मुक्ति की इच्छा वाला है और न कोई मुक्तः मुक्त हुआ है वास्तव में सदा नित्य मुक्त ही है अस्तु उक्त वेदान्त सिद्धान्त के गुण बहुत हैं कहां तक विचार करें और गुण दोष की परीक्षा के लिये हमने यह ग्रन्थ नहीं लिखा किन्तु एक मात्र वेदान्त के सिद्धान्त के बोधन के लिये लिखा है ॥

गुण दोष विचार इसका बहुत लोगों ने किया है यहां तक के माया कहां से आई ? ब्रह्मक्यों ? भूला इस पर सहस्रों ग्रन्थ हैं प्रोफैसर मैक्समूलर भी इसकी इसी कमज़ोरी को पकड़ते हैं कि माया कहां से आई ? परन्तु इस सिद्धान्त के प्रवर्त्तकस्वामीशंकराचार्य्यजी की प्रशंसा भी बहुत करते हैं कि भारत का भूषण फिलासफर एक मात्र स्वामीशंकर ही है अस्तु हम भी इतनी अंश में उनसे सहमत हैं कि

शंकराचार्य्यजी ने भारतीय दर्शन पर ऐसा प्रकाश डाला है कि जो कभी भी हतप्रभ न होगा किन्तु सदैव दीप्तिमान् रहेगा।

इस द्वैताऽद्वैत फिलासफी पर शंकर मत का यहां तक प्रभाव पड़ा कि शंकर सिद्धान्तों का नाम ही वेदान्त होगया जैसे प्रयाग संगम से लेकर यमुना, गोमती, सर्य्यु, सोणादि अनेक नदी नदों का नाम मिटाकर गंगा ने अपने में मिलाकर औरों का नाम ही पलट दिया एवं शंकर की वेदान्त फिलासफी ने औरों का नाम तक बदल दिया केवल नाम ही नहीं बदला इसमें चित्त प्रसाद जनकता भी है अर्थात् यह भाव चित्त को सदा प्रसन्न रखता है ॥

हमारे विचार में शंकर मतानुयायी होने से वा यों कहो कि अद्वैत सिद्धान्तानुयायी होने से भारत का गौरव है ह्रास नहीं क्योंकि कांएट बर्के आदि अन्य देश निवासी इस विषय में शंकर को नहीं पासकते। और ना वे इस आध्यात्मकवाद को इस प्रकार फैला सकते हैं, अस्तु माया वाद के प्रसंग में इतना कहा—

अब मुक्ति विषय में अन्तिम कथन कर के इस ग्रन्थ की समाप्ति करते हैं।

मुक्ति इनके मत में प्रपञ्च सहित अज्ञान की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति है, जिस प्रकार रज्जू विषयक अज्ञान को मिटाकर रज्जू अधिष्ठान की प्राप्ति होजाती है फिर भयकम्पादिक नहीं रहते एवं ब्रह्म रूप अधिष्ठान की प्राप्ति से संसार के दुःख नहीं रहते इसको नित्य मुक्ति मानते हैं अर्थात फिर इससे पुनरावृत्ति नहीं होती ॥

पर यदि कोई यह कहे कि जिस रज्जु में आज सर्प मिटकर रज्जु का पूर्ण ज्ञान होगया है क्या फिर उस रज्जु में भ्रम होने की सम्भावना नहीं ? तो कोई भी नहीं कह सकता कि फिर कभी भ्रम न होगा क्योंकि वही रज्जु यदि स्थानान्तर में फैंक दिया जाय वा किसी कारण से अधिक अन्धकार से आवृत्त होजाय तो फिर भी भ्रम होसकता है एवं ब्रह्म भी इस प्रकार भ्रम में आकर पुनः सृष्टि का कारण होसकता है और यह प्रवाह सदैव बना रहेगा ॥

यह भाव भी (सर्वधर्म्मोपपत्तेश्च) इत्यादि सूत्रों से निकल सकता है इसी अभिप्राय से भाष्यकार (अनादिरनन्तोयं लोकव्यवहारः) यह व्यवहार भी अनादि और अनन्त काल से ऐसा ही चला आता है यह भी वेदान्तियों का सिद्धान्त है ॥

पर मुख्य सिद्धान्त यह है कि एक बार अविद्या निवृत्ति होने पर फिर बन्ध नहीं होता जैसाकि भुना हुआ बीज फिर नहीं जन्मता कहा भी है कि—

"बीजान्यग्नि उपदग्धानिनप्ररोहन्तियथा पुनः ।
ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैर्नात्मासम्बध्यते पुनः ॥

इस प्रकार यह नित्य मुक्ति मानते हैं ।

पूर्वोक्त वेदान्त के सिद्धान्त का निष्कर्ष यह है कि एक ही ब्रह्म तत्व है वही अपनी विचित्र शक्तियों से नाना रूपों को धारण कर लेता है, मुख्य सामानाधिकरण न्याय से संसार दशा में भी वह एक है और फिर भी वह अन्त में एक का एक ही है माया उसकी एक

आत्मभूत शक्ति है इस मत को स्वामीशंकराचार्य्यजी ने **आरम्भणाधिकरण** में यों वर्णन किया है कि जो नाम रूप हैं वही अविद्या है और उस के सहारे से (ब्रह्म) ईश्वर कहलाया वास्तव में ब्रह्म में न ईश्वरत्व है और न नामरूपत्व **नामरूप, अविद्या, माया,** यह तीनों वेदान्त मत में एक ही पदार्थ के नाम हैं। और वे मिथ्या हैं इसी अभिप्राय से भाष्यकार ने इनको यह लिखा है कि—

तत्त्वाऽन्यत्वाभ्या मनिर्वचनीये कि इनको सत्य वा असत्य नहीं कह सकते क्योंकि यह ब्रह्म की अपनी आत्मभूत अर्थात् आत्मरूप शक्ति हैं, जो ब्रह्म से भिन्न नहीं ॥

और इस स्थल में यह भी लिखा है कि इन्हीं को माया, वा प्राकृति कहते हैं जैसेकि—

"मायाशक्तिः प्रकृतिरितिच" कि माया और प्रकृति भी इन्हीं का नाम है और यह ब्रह्म का अपना आप है इसलिये अद्वैत सिद्धान्त में इनसे कोई हानी नहीं होती ॥

यहां यह बात भी स्मरण रखने योग्य है कि जैसे अध्यास वाद के निर्माता स्वामीशंकराचार्य्यजी हैं एवं अनिर्वचनीय वाद के बनाने वाले भी उक्त स्वामीजी ही हैं कोई अन्य नहीं ॥

सत्य तो यह है कि जो दर्शन वाद में सब से बड़ा भूषण **अनिर्वचनीय वाद** उसे भी स्वामीशंकराचार्य्यजी ने अपने बुद्धि बल से उत्पन्न किया है किसी अन्य ने नहीं ॥

यद्यपि यह कहा जाता है कि योरोप में (बर्क्ले) साहब ने भी

परन्तु पारमार्थिक सत्ता वाले ब्रह्म को यह दृष्टि विषय करती है इस लिये इस अवस्था में आनन्द प्रतीत होता है, स प्रकार की दर्शन की प्रक्रिया (System of philosphy) सिस्टम ऑफ फिलासफी बर्क्ले साहब के मत में नहीं ।

३—अन्य प्रसिद्ध भेद यह है कि बर्क्ले निरधिष्ठानभ्रम मानता है कि बाहर कोई वस्तु ही नहीं और शङ्कराचार्य्य जी रज्जु के समान भ्रम का अधिष्ठान बाहर मानते हैं अर्थात् चेतन अधिष्ठान में सब भ्रम हैं बिना किसी सहारे के नहीं ।

४—अन्य भेद यह है कि शङ्कर का एक अद्वैत लक्ष्य है, अर्थात् इन सब मिथ्या अवस्थाओं को मिटाकर एक अद्वैत को सिद्ध करना शङ्कराचार्य्य जी का लक्ष्य है ऐसा कोई लक्ष्य बर्क्ले के मत में नहीं क्योंकि उस के मत में एक ही आत्मा सब में फैला हुआ नहीं ।

हां कई एक मतवादी तथा अनुसन्धान कर्त्ता (Research scholars) रिसर्चस्कालरस यह कहते हैं कि शङ्कराचार्य्य जी जो किसी मत के ग्रन्थों की शरण लेकर इस वेदान्त फिलासफी को सिद्ध करते हैं सो ठीक नहीं ।

इस का उत्तर यह है कि स्वामी शङ्कराचार्य्य जी एक मात्र आधार किसी मत पर वेदान्त फिलासफी का नहीं रखते किन्तु जब

"एकमावाद्वितीयम्" "नेहमान्तरि किञ्चन" ।

इत्यादि वाक्य उनको अपने सिद्धान्त के पोषक अर्थात् पुष्ट करने वाले मिलते हैं तो वे उन्हें भी लेलेते हैं एक मात्र निर्भर किसी ग्रन्थ पर रखते तो यह क्यों लिखते कि "पञ्चादिमिश्चाविशे-

2549(ब)

अनिर्वचनीय वाद ही माना है तथापि स्वामी शङ्कराचार्य जी और उक्त बर्क्ले साहब का बहुत बड़ा भेद है अर्थात् १ बर्क्ले का अनिर्वचनीयवाद किसी आधार पर स्थिर नहीं किन्तु बर्क्ले साहब यही कहते हैं जो यह विषय बाहर प्रतीत होते हैं यह बाहर नहीं किन्तु भीतर ही हैं इन की बाह्य कुछ सत्ता नहीं पर यह नहीं कहते कि यह बाहर क्यों प्रतीत होते हैं? और किसी प्रकार से ऐसा तत्व ज्ञान भी होसकता है कि जिस से यह बाहर प्रतीत न हों इस की चर्चा बर्क्ले के मत में कुछ नहीं।

२—अन्य बात यह भी है कि जिस प्रकार जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं का पूरा २ वर्णन शङ्कर फिलासफी में है ऐसा बर्क्ले के मत में नहीं, शङ्कर फिलासफी में बाह्य पदार्थों की १ व्यावहारिकसत्ता है और स्वप्न की २ प्रातिभासिकसत्ता। और एक प्रकार से सुषुप्ति की। पारमार्थिकसत्ता है।

१ व्यावहारिक वह जो जब तक ब्रह्म ज्ञान नहीं तब तक प्रयोजन सिद्ध करने वाली रहे, और ब्रह्मज्ञान से बिना जिस का किसी प्रकार से भी (बाध) अर्थात् मिथ्यापन न हो उसे व्यावहारिक कहते हैं, और जिस का नाश ज्ञान से होजाय वह प्रातिभासिक सत्ता कहलाती है।

और "सतासोम्य तदासम्पन्नो भवति" छा० इस वाक्य के अनुसार सुषुप्ति दशा में जीव ब्रह्म के साथ जा मिलता है। केवल इतना ही भेद है कि सुषुप्ति अवस्था में अविद्या की वृत्ति है इस लिये पूरा २ ज्यों का त्यों ब्रह्म का ज्ञान इस में नहीं होता